योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री रामनवमी जन्मोत्सव विशेषांक

वर्ष : 57 ; अंक : 01
अप्रैल 2024

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई – 283202 (आगरा) उ.प्र.

प्रकाशन तिथि : 01.04.2024

मूल्य – एक प्रति : 25/–, द्विवार्षिक : 400/–

अमृतकण

ज्ञेयं सर्वमनित्यं च ज्ञानं च ममचोच्यते
ज्ञानं ज्ञेयं समं कुर्यान्नाऽन्यो ह्यस्ति द्वितीयक:

सम्पूर्ण ज्ञेय (दृश्य) अनित्य है और ज्ञान मेरा कहलाता हैं ज्ञान और ज्ञेय को समान करले तो द्वैत नहीं रहता।

◆ ◆ ◆

एवं श्रुत्वा महादेवि गुरुनिन्दां करोति य:
स याति नरकं घोरं यावच्चन्द्रदिवाकरौ

हे पार्वती ! इस प्रकार सुनकर जो गुरुदेव की निन्दा करता है यह जब तक चन्द और सूर्य हैं तब तक घोर नरक में पड़ता है।

◆ ◆ ◆

यावत् कल्पान्तको देहस्तावद् देवि गुरुं स्मरेत्
गुरुलोपो न कर्त्तव्य: स्वच्छंदो यदिभावयेत्

कल्पांत तक जब तक देह है तब तक गुरु का स्मरण करे। यदि स्वच्छ (मुक्त) होने की इच्छा हो तो गुरु का लोप न करे।

◆ ◆ ◆

हुंकारेण न वक्तव्यं प्राज्ञशिष्येण कदाचन
गरोरग्रे न वक्तव्यं असत्यं च कदाचन

बुद्धिमान शिष्यों को कभी " हुम् " इस अंहकार या उपेक्षा भरे शब्द से बोलना न चाहिये और गुरुदेव के सामने कभी झूठ न बोलना चाहिये।

◆ ◆ ◆

गुरुं हुंकृत्य त्वङ्कृत्य गुरुं निर्जित्य वादत:
अरण्ये निर्जले देशे संभवेद् ब्रह्मराक्षस:

गुरुदेव से " हुम् " (उपेक्षा) तू, तुम कहकर बात नहीं करनी चाहिये, आप कहकर बात करनी चाहिये तथा तर्क-वितर्क के द्वारा गुरुदेव को जीत लेने पर भी क्षमा प्रार्थना स्थान में ब्रह्म- राक्षस होता है।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 57 अप्रैल 2024 अंक : 01

इदमेव शिवम् इदमेव शिवम्
इदमेव शिवम् इदमेव शिवम्
ममशासनतो ममशासनतो
ममशासनतो ममशासनतो

मेरे आदेश से श्री गुरु-ज्ञान ही कल्याणकारी है मेरे आदेश से श्री गुरु-ज्ञान ही कल्याणकारी है मेरे आदेश से श्री गुरु-ज्ञान की कल्याणकारी है।

●●●

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख– योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	9
3.	श्रीमद्भागवत् में योग–परिचर्या– डॉ. विजय सिंह	12
4.	जीव को प्रदत्त अद्भुत शक्तियाँ– श्री अन्तू राम यादव	15
5.	साधन–सिद्धि का उपाय– श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह	18
6.	आध्यात्मिक प्रगति– प्रो. ऋषिराम शर्मा	23
7.	अशुभ ही नहीं शुभ का भी त्याग करना होगा– स्वामी विवेकानन्द जी	29
8.	योग साधना में ही सुसभ्य एवं स्वस्थ....– आचार्य डॉ. दासलाल शर्मा	32
9.	सहज योग– स्वामी विवेकानन्द जी	34
10.	मृत्यु विज्ञान– श्री गोपीनाथ जी कविराज	36
11.	पत्रं–पुष्पं–फलं–तोयम्– मनुस्मृति सूक्ति संचय	38
12.	यौगिक प्रश्नोत्तरी– पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा	40
13.	मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः– श्री म. त्रि. भट्ट	47
14.	अदृश्य बाँसुरी वादक की रहस्यमयी धुन– दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर	55

एक प्रति	: रु. 25.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 250.00
द्विवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1500.00

हमारा विशेष लेख–

मेरे श्री गुरुदेव

योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः

गुरुदेव परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

मैं अपने श्री गुरुदेव के चरणारविन्द की महिमा किन शब्दों में लिखूँ यह मेरी समझ में नहीं आ रहा। गुरुदेव एक ऐसा शब्द है जो सभी के लिए मान्य है, और हर व्यक्ति जो किसी भी प्रकार से गुरुदेव की शरणागति प्राप्त कर चुका है, उसके लिए गुरुदेव पूर्ण ब्रह्म हैं। साधक जब तक गुरुदेव के स्वरूप में ईश्वर बुद्धि धारण नहीं करता तब तक वह परम श्रेय के पथ का पथिक नहीं बन सकता। इसलिए भारतीय संस्कृति का ज्ञान रखने वाली भारतीय जनता अपने–अपने गुरुदेव के चरणारविन्द में पूर्ण ईश्वर बुद्धि रखती है वह श्री गुरुदेव के चरणारविन्दों में न्यौछावर होना अपना परम सौभाग्य समझती है। गुरुदेव क्या हैं, और उनका स्वरूप क्या है यह एक पृथक लेख का विषय है, फिर भी मैं समझता हूँ कि गुरुदेव के दो स्वरूप होते हैं, एक उनका अपना निज स्वरूप और दूसरा साधक की श्रद्धा से निर्माणित स्वरूप। जगदात्मा भगवान् श्री कृष्ण ने अपने मुखारविन्द से श्रीमद् भगवद्गीता के 17 वें अध्याय में कहा है :–

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत,

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

अर्थात् परमात्मा का रूप श्रद्धामय है, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही उसमें सच्चिदानन्दघन नित्य चेतन का स्वरूप होता है। श्रद्धा साधक के अपने हृदय का पवित्र उद्‌गार है। श्रद्धावान् व्यक्ति जिसके विषय में जो सोचता है वहीं से उसको ईश्वरीय शक्ति मिल जाती है। धन्ना जाट, नामदेव आदि के जितने उदाहरण मिलते हैं वह सब के सब श्रद्धा के ही उज्जवल प्रतीक हैं। किसी साधारण व्यक्ति को ईश्वरीय भावना से देखना यह भक्त के हृदय की पवित्र भावना है व ईश्वर होना उसकी अपनी यथार्थता है। गुरुदेव के विषय में भी सभी आस्तिक लोगों की ईश्वरीय भावना होती है और अपनी भावना के अनुरूप ही वह लोग फल को पा लेते हैं **"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"**। इसके अतिरिक्त यदि श्रद्धेय पुरुष परिपूर्ण हैं साधक श्रद्धा का पुतला है तो अभीष्ट लाभ में कोई शंका का स्थान है ही नहीं। मेरे गुरुदेव जिनके विषय में यह पंक्तियाँ लिखने लगा हूँ ; सिद्धों के महासिद्ध, सर्व समर्थ योगयोगेश्वर व सर्वतः परिपूर्ण हैं। उनकी पवित्र ख्याति को बहुत ही कम लोग जान पाये हैं। सम्भव हो सकता है इस विषय में उनका अपना ही संकल्प हो ; किन्तु उनके चरणारविन्दों के चिन्तन करने वाले सर्वसाधारण जन समुदाय के अन्दर जो– जो चमत्कारिक घटनायें घटित

होती रहती हैं उनका इस छोटे–से लेख के अन्दर लिखना भी सम्भव नहीं हो सकता।

उनकी पवित्र जन्मभूमि अमृतसर (पंजाब) है। अमृतसर में ज्योतिष विद्या के गणमान्य विद्वान् महामान्य पं. गण्डाराम जी ज्योतिषी के घर में उनका पवित्र अवतरण हुआ। लगभग बारह या चौदह वर्ष की आयु तक बाल– क्रीड़ा करते हुये घर पर रहे। उसके बाद तीव्र वैराग्य के भावों से प्रेरित होकर घर से निकल पड़े और कुछ दिन साधु समुदाय के अन्दर घूमते हुए निर्जन वनों में भ्रमण करने लगे। उसमें सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह थी जहाँ–जहाँ पर कोई पहुँच वाला सन्त मिलता और मेरे श्री गुरुदेव जी के स्वरूप को पहचानता वही गद्‌गद् कण्ठ होकर स्तुति करता और कृपा की भीख माँगता। इन पंक्तियों में कुछ लिखूँ, यह मेरा लक्ष्य नहीं है। फिर भी इतना कह देना तो आवश्यक ही है कि अपने बाल्यकाल में ही वे घटनायें घटी जो सर्वसाधारण के जीवन में कभी हो नहीं सकती। चार वर्ष की उम्र में माता–पिता को दिव्य ज्योति का अनुभव कराना छः साल की उम्र मे वृद्धा पड़ोसिन जो लगभग मरणासन्न अवस्था में थी के सिर पर हाथ फेरकर पूर्ण गति का वरदान देना 9 वर्ष की अवस्था में अमृतसर के पास रामतलाई पर दर्शनार्थ आने के इच्छुक महात्माओं को स्वयं ही जाकर दर्शन देना, चौदह या पन्द्रह साल की उम्र में वनों को जाते हुये मुरादाबाद की तरफ से निकलते हुये किसी गाँव में किसी कुम्हार के सिर पर कर स्पर्श करके दिव्याभुभूति कराना व खेचरी मुद्रा की पूर्णता का वरदान देना उनके जन्मजात सहज सामर्थ्य का पूर्ण परिचायक है। किन्तु फिर भी लोकलीला का अनुसरण करते हुये जंगलों में विचरते रहे और अपनी इस वन–यात्रा में कई तपस्वी साधुओं परमानुग्रह कर उनको सफल मनोरथ बनाया और अपने आप थोड़े ही समय के अन्दर नेपाल हिमालय को चले गये। नेपाल की राजधानी काठमांडू से ऊपर जहाँ बागमती गंगा का उद्‌गम स्थान है, वहाँ से कुछ दूर चल कर किसी झार–खण्ड में रह कर घोर तपस्या का जीवन व्यतीत करते रहे। उस स्थान पर ही स्वयं सदाशिव स्वरूप एक महापुरूष आये जो मेरे श्री गुरुदेव जी को हिमालय के हिमाच्छादित प्रदेश में आकाश मार्ग से ले गये और एक स्थान पर छोड़ दिया। केवल दो एक बातें बतलाई। एक नर–भक्षक जड़ी दिखलाई और कहा कि यह जड़ी नर–भक्षक है, मनुष्य को खा जाती है। दूसरी बात कि तुम यहाँ रहो, यह कह कर वह महापुरूष अपनी गुफा में जाकर के समाधिस्थ हो गये। उस स्थान से 6–6 मील 7–7 मील की दूरी पर कोई–कोई सिद्ध महापुरूष रहते थे। मेरे श्री गुरूदेव विचरते हुये उन लोगों से मिले। उन लोगों ने बताया, यह महापुरूष सदाशिव हैं और कई हजार वर्षो से यहाँ पर बैठे हुए हैं। यही सिद्धियों के दाता स्वयं महासिद्ध है और छः महीने में एक बार समाधि से उठते हैं। श्री प्रभुजी मेरे गुरुदेव अपने मुखारविन्द से यह बतलाते थे कि जब तक श्री महाप्रभु जी समाधि से उठें तब तक उनकी अपनी भी कई रोज की समाधि लग उठी थी। इसका अर्थ यही है– ' **गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तुछिन्नसंशयाः** '। अर्थात् गुरुदेव का चुपाचुपी का व्याख्यान हो और शिष्यों के संशय स्वतः ही नष्ट होते चले जायें। यही सद्‌गुरु तत्व की महत्ता है सामर्थ्यवान् गुरुदेव को बहुत उपदेश करने की आवश्यकता नही होती उनका संकल्प ही " **कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकुर्त्तुम्** " की शक्ति रखता है। मेरे श्री गुरुदेव के उन हिमाच्छादित शिखरों पर लगभग 12 वर्ष रहे और फिर संसार के पतित एवं वेदनापूर्ण दुःखी जीवों को देखकर उन दयासागर जी के मन में दया के भाव उमड़े और उन्हें संसार के आधिव्याधियों से पीड़ित दुःखी प्राणियों को पवित्र योग मार्ग का

पथ प्रदर्शन करने के लिए श्री कृपानिधि जी भू– मण्डल पर लौट आये। श्री गुरुदेव जी अपने मुखारविन्द से यह कहा करते थे कि हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों पर बैठ करके आधिव्याधियों से पीड़ित दु:खाक्रान्त जीवों को देखा और उनके भले की भावना पूर्णरूपेण मन में जाग उठी, अत: पुन: संसार में आ करके प्राणी मात्र के भले के लिए पवित्र योग–मार्ग के प्रचार का आरम्भ कर दिया–

प्रजाप्रासादमारूहा अशोच्य: शोचतो जनान्।

भूमिष्ठानिव शैलस्थ: सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

अर्थात् प्रज्ञा–प्रसाद पर आरूढ़ हुये योगिराज संसार वालों को इस प्रकार देखते हैं जैसे पर्वत शिखर पर बैठे हुये व्यक्ति भूमि वालों को देख लिया करते हैं। ठीक इसी उदाहरण के प्रतीक बन कर मेरे श्री गुरुदेव भू–मण्डल पर आये और उन्होंने योग–प्रचार का पवित्र कार्य आरम्भ कर दिया। श्री प्रभुजी ने अवनी–मण्डल पर आकर तीन प्रकार के कार्य प्रारम्भ किये–

1. योग के सरल साधनों द्वारा रोग निवृत्ति– इसमें भी सबसे विशेष बात थी निज निर्मित साधनों का प्रचार। इनमें उनका एक प्रमुख साधन था , **" जीवन तत्व साधन "** इस जीवन तत्व साधन के अन्दर नौ क्रियायें है, जिनके करने से लोगों को अद्‌भुत व आश्चर्यजनक लाभ होता है। इस साधन के अन्दर सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह लगातार विधि– विधान पूर्वक करने से पेट में इस प्रकार की अग्नि पैदा करता है जिसको **" वृक "** अग्नि कहते हैं। जिस प्रकार जंगली जानवर भेड़ियों को हर समय भूख लगती रहती है, उसी प्रकार इन साधनों के करने से मनुष्य को हर समय भूख लगती रहती है। पेट में एक अग्नि सी धधकती मालूम पड़ती है। वह अग्नि तब तक बन्द नहीं होती जब तक मनुष्य का स्वास्थ्य पूर्णरूपेण ठीक न हो जाये। इस के साथ–साथ इस साधन के अन्दर एक प्रमुख विशेषता यह है कि इस साधन को करते हुये बच्चे का ध्यान करने की एक विधि है जिससे मन की एकाग्रता का स्वाभाविक लाभ होता है और बच्चा दीखने लगता है। इस बच्चे के देखने का आह्लाद हर समय बना रहता है। और उससे उनके अधिकांश रोग की निवृत्ति हो जाती है। इसके साथ ही साथ दृढ़तर अभ्यास करने के बाद वही बच्चा श्रीकृष्ण आकृति में बदल जाता है, और साधक का अध्यात्म में प्रवेश हो जाता है। जीवन तत्व साधन की नौ क्रियायें हैं जो बहुत प्रचार में आ चुकी हैं।

2. अमर तत्व साधन– जिसमें केवल क्षीर समुद्र का ध्यान किया जाता है और हाथ–पैरों को इस प्रकार से चलाया जाता है कि जिस प्रकार हम समुद्र में तैर रहे हों। जो साधक श्री गुरुदेव की परम कृपा से अपने को क्षीर–सागर में तैरते हुये देखने लग जाते हैं उनका राज–यक्ष्मारोग बहुत थोड़े दिन में दूर हो जाता है उनको इतनी प्रसन्नता होती है कि उसमें उनकी समस्त बीमारियाँ भाग जाती हैं। और बहुत ही थोड़े दिन के अन्दर अपने आपको पूर्ण स्वस्थ देखने लगते हैं। प्रथम बार श्री गुरुदेव जी यह जीवन तत्व व अमर तत्व आदि साधन ही लोग–हितार्थ कराया करते थे, किन्तु कुछ समय बाद नेती, धौति, न्यौली, बस्ति, गजकरणी आदि क्रियायें भी अधिकारी देखकर कराने लगे। इसके अतिरिक्त अन्य आसन, बन्ध, मुद्रायें और विभिन्न प्रकार की गुप्त क्रियाओं का शिक्षण भी आरम्भ कर किया, यह सबसे बड़ा काम उन्होंने संसार में आकर किया।

3. शक्तिपात दीक्षा– जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हो सकता। हमारे शास्त्रों में योग का वर्णन दो प्रकार से मिलता है, सिद्धयोग और साधनयोग। साधन–योग में मनुष्य साधन करता–करता शनैःशनैः अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, और सिद्धयोग में सिद्धानुग्रह से ही मनुष्य का उत्थान हो जाता है और उसकी प्रगति इतनी ऊँची होती है कि जिसे वह अपने पुरुषार्थ से अनेक जन्म में भी नहीं प्राप्त कर सकता। सिद्धयोग के दाता पूर्ण सद्गुरु सिद्ध योगिराज ही हो सकते हैं, और वही लोग शक्ति–संचार भी कर सकते हैं। इस 'सिद्धयोग' का प्रारम्भ भगवान् सदाशिव से हुआ। पुराणों में हिमालय के घनघोर जंगलों में होने वाले एक सिद्धाश्रम की चर्चा मिलती है, जिसमें भगवान् सदाशिव के शिष्य–प्रशिष्य योगाचार्यगण निवास करते हैं, यह सभी लोग संसार में आया करते हैं। यह लोग सर्वसमर्थ महापुरुष हैं। यही लोग शक्ति संचार कर सकते हैं। मेरे श्री गुरुदेव भी इन सब की तरह एक अनादि महासिद्ध हैं। उन्होंने संसार में आकर शक्तिपात दीक्षा देनी प्रारम्भ की।

उनके कृपा–फल को प्राप्त कर कितने ही सैंकड़ों की संख्या में साधु जंगलों में समाधि लगा रहे हैं, और तत्व विजयी होकर अपने शरीरों को एक सुन्दर नवयुवक के समान रखते हैं। कितने ही साधु षट्चक्रों का भेदन करके लोक–लोकान्तरों में गमन करने की शक्ति वाले हो गये, और स्वायत्ततनु होकर हिमालय की कन्दराओं में निवास कर रहे हैं। मेरे गुरुदेव योग–योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज सन् 1914 के लगभग हरिद्वार के कुम्भ मेले में प्रथम बार हिमालय से उतर कर आये। जिन जीवों के संस्कार उनके चरणारविन्द में उन्हें ले आते हैं या जो इस, पवित्र योग–मार्ग के जिज्ञासु हैं उनको पवित्र योग–मार्ग का अनुयायी बनाकर चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करना, हरिद्वार कुम्भ मेले के समय उनके अपने संकल्प से ही उनके कुटुम्बी जनों ने उन्हें पहिचाना और साधारण चर्चाओं में ही तर्क वितर्क करने लगे कि महाराज जी आप कहीं पर किसी भी स्थिति में रहें, अब हम आपको अवश्य ही पहचान लेंगे। श्री महाराज जी ने उन लोगों से कहा कि भाई ! हम साधु हैं तुम्हें हमसे आग्रह नहीं करना चाहिए। तुम अपना कार्य करो हम अपना कार्य करेंगे। किन्तु वे लोग नहीं बदले। आग्रह करते ही रहे। इसी बीच में उन्होंने आश्चर्य से देखा कि उनसे बात करते–करते ही श्री गुरुदेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। वह लोग लाख प्रयत्न करने पर भी उनका अन्वेषण नहीं कर सके। अपनी हठधर्मिता का दुष्परिणाम पाकर उन सभी को महान् दुःख हुआ। किन्तु उनको यह भी ज्ञान हो गया कि इस हमारे कुटुम्बी भाई बन्धु ही नहीं हैं किन्तु कोई सामर्थ्यवान् परम योगिराज हैं। श्री गुरुदेव जी की इस प्रभुता को जानकर लोगों ने अत्यन्त विनय की, जिसके फलस्वरूप श्री प्रभु जी वहीं प्रकट हो गये, किन्तु एक बालक के रूप में। उस बालक को ये लोग नहीं पहचान सके। सोचते रहे यह कोई 15–16 साल का बालक है। कहीं कुम्भ मेले आया होगा, हमारे पास आकर बैठ गया है। किन्तु इन लोगों की अनभिज्ञता को देखकर उस बालक के रूप में छिपे हुये सर्व समर्थ सिद्धों के सिद्धेश्वर मेरे गुरुदेव उनसे मुस्कराकर कहने लगे कि भाई तुम किस चिन्ता में हो ? किसका अन्वेषण कर रहे हो ? उन लोगों ने कहा ; ब्रह्मचारी जी ? हमारे एक भाई साधु रूप में अभी–अभी यहाँ थे, किन्तु पता नहीं कहाँ चले गए हैं ? हमने उनके साथ बड़ा आग्रह किया था, उस आग्रह का हमें भारी पश्चाताप है। जब वह लोग यह कह ही रहे थे तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ कोई ब्रह्मचारी नहीं है, प्रत्युत योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज

हैं। इस अद्भुत घटना को देखकर सभी कुटुम्बी जनों ने निश्चय कर लिया कि यह केवल मात्र हमारे कुटुम्बी ही नहीं हैं; किन्तु इस आकृति में छिपे हुये सर्व–समर्थ योगिराज हैं उसके बाद उन्होंने श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में कोई हठ नहीं किया और अपने–अपने घरों को लौट गये। कुछ लोगों ने श्री प्रभुजी को अमृतसर ले जाने का हठ किया, श्री प्रभुजी की स्वयं अपनी इच्छा थी ही इसलिये वह हिमालय से उठकर के आये। उनके हठ को स्वीकार करके अमृतसर चले गये और वहाँ जाकर कुछ समय के लिये पण्डित वेष में रहने लगे। यह श्री प्रभुजी का गृहस्थ वेष था। जिस समय वन की बात किया करते थे सुनने वाले समझते थे कि इतने घनघोर जंगलों में सम्भवत: वे नहीं गये होंगे। अचानक इन्हीं दिनों में एक घटना घटी। अमृतसर में हाल दरवाजे से बाहर एक सराय है, जिसको सन्तराम की सराय कहते हैं। उसमें एक परम तेजस्वी दैदीप्यमान मुख–मण्डल वाले एक महात्मा आकर समाधिस्थ होकर बैठ गये। वह बिलकुल नग्न थे। तीन दिन व तीन रात्रि बिना कुछ खाये पिये समाधि स्थिति में वह महात्मा वहीं बैठे ही रहे। सारे शहर में उनकी प्रख्याति फैल गई। दर्शकों की भारी भीड़ उनके पास एकत्र हो गई। श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में जाकर गृहस्थी लोगों ने प्रार्थना की कि श्री महाराज जी ! आप बड़े–बड़े जंगलों में हो आये हैं, किन्तु अभी तक आपको इस प्रकार के सिद्धयोगिराज जी नहीं मिले होंगे जैसे महात्मा सन्तराम की सराय में आकर बैठे हैं ? वह तीन दिन से बिलकुल निराहार हैं और पत्थर की मूर्ति की तरह से बैठे हैं, न हिलें हैं न डुले हैं। चलिये आपको भी उनके दर्शन करा लावें। श्री गुरुदेव जी ने उत्तर दिया भाई ! हमें रहने दो, तुम्हीं दर्शन कर आओ। जब तीन रात्रि से बैठें हैं तो अच्छे तो हैं ही। किन्तु लोगों ने बड़ी भारी हठ की। लोगों के मन में यह भावना थी कि उस महात्मा को देखकर श्री गुरुदेव जी आश्चर्य चकित हो जावेंगे और कहेंगे कि हाँ, यह तो कोई अवश्य सिद्ध योगिराज हैं ! किन्तु बात कुछ और ही थी। श्री प्रभु जी उन लोगों के आग्रह करने पर सन्तराम की सराय में गये। जहाँ वह महात्मा समाधि लगाकर बैठे हुए थे, धीरे–धीरे उनके पीछे जाकर खड़े हो गये। लोगों को यह आश्चर्य हुआ कि और लोग सामने खड़े हैं और यह पीठ के पीछे खड़े हैं। थोड़ी ही देर में लोगों ने देखा कि महात्मा के शरीर में कम्पन पैदा हुआ। उस कम्पन के साथ उनके प्राणकोष ब्रह्माण्ड से नीचे आ गये। महात्मा सचेत होकर जाग उठे और बड़ी तीव्रता के साथ खड़े होकर परम करुणार्णव मेरे श्री गुरुदेव जी के चरणारविन्द में गिर पड़े और चरणों से लिपट गये। महात्मा इतने रोये कि श्री प्रभुजी के बहुत समझाने पर भी उनके आँसू बन्द नहीं होते थे। श्री प्रभुजी ने उनको दोनों हाथों से उठाकर कण्ठ से लगा लिया और सिर पर हाथ रख आशीर्वाद देते हुए कहा– बेटा ! रोते क्यों हो ? मैंने ही तुमको शतपथ से बुलाया है, तुम्हारी समाधि अपूर्ण थी, आज से वह पूर्ण हो जायेगी और तुम्हारी खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जायेगी। आकाश–गमन आदि सब ठीक हो जायेगा। महात्मा ने बड़ी कठिनता से श्री प्रभुजी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि ' हे प्रभो ! हे सर्वशक्तिमान ! मेरे रोने का केवल एक ही कारण है। मैं आपका मन्द बालक हूँ। तीन दिन तीन रात मेरी कठोर परीक्षा के बाद आपने मुझे दर्शन दिये हैं। मैं तड़पता रहा चरणारविन्दों के दर्शन के लिए, किन्तु आपके चरणारविन्द में बहुत से स्त्री–पुरुषों का जमघट होने के कारण मैं नहीं आ सका और आप दर्शन देने के लिए नहीं आये। आज मेरा यह शुभ दिन है। पता नहीं मेरे कौन से पुण्य प्रारब्ध से प्राणिमात्र के अन्तर्द्रष्टा श्री प्रभुजी ! आपने आकर मुझे कृतार्थ किया है। श्री प्रभुजी ने उस महात्मा को कुछ समय अपने

पास रखकर हिमालय भेज दिया। जो लोग श्री प्रभुजी के साथ सन्तराम की सराय में गये थे, उनके आश्चर्य का तो कोई ठिकाना ही नहीं रहा। वह लोग भली प्रकार जान गये, इस विप्र वेष में छिपे यह अवश्य कोई सर्वसमर्थ महापुरूष है।

यह पहली घटना थी जिससे कुछ सर्व साधारण लोग मेरे गुरुदेव के स्वरूप को कुछ–कुछ समझने लगे। यहाँ से ही शक्तिपात और सब प्रकार के योग प्रचार का कार्य आरम्भ हुआ। पाठकगण समझते रहें कि सद्‌गुरुदेव कौन होता है और कार्य किस प्रकार से हुआ करते हैं।

श्री राम लाल प्रभवे नमः

आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज का 136 वाँ प्राकट्योत्सव श्री सिद्धगुफा संवाई धाम में 15,16 व 17 अप्रेल को बड़े ही धूम धाम से मनाया जा रहा है। सभी प्रभु भक्तों से आग्रह है कि नियत तिथियों में आकर गुरु चरणों की कृपा एवं दर्शन का लाभ लें। श्रीरामनवमी का भण्डारा 17 अप्रेल 2024 को है।

आचार्य दासलाल जी महाराज

श्री सिद्धगुफा, सवांई धाम

एत्मादपुर, आगरा

।। श्री रामलाल प्रभवे नमः ।।

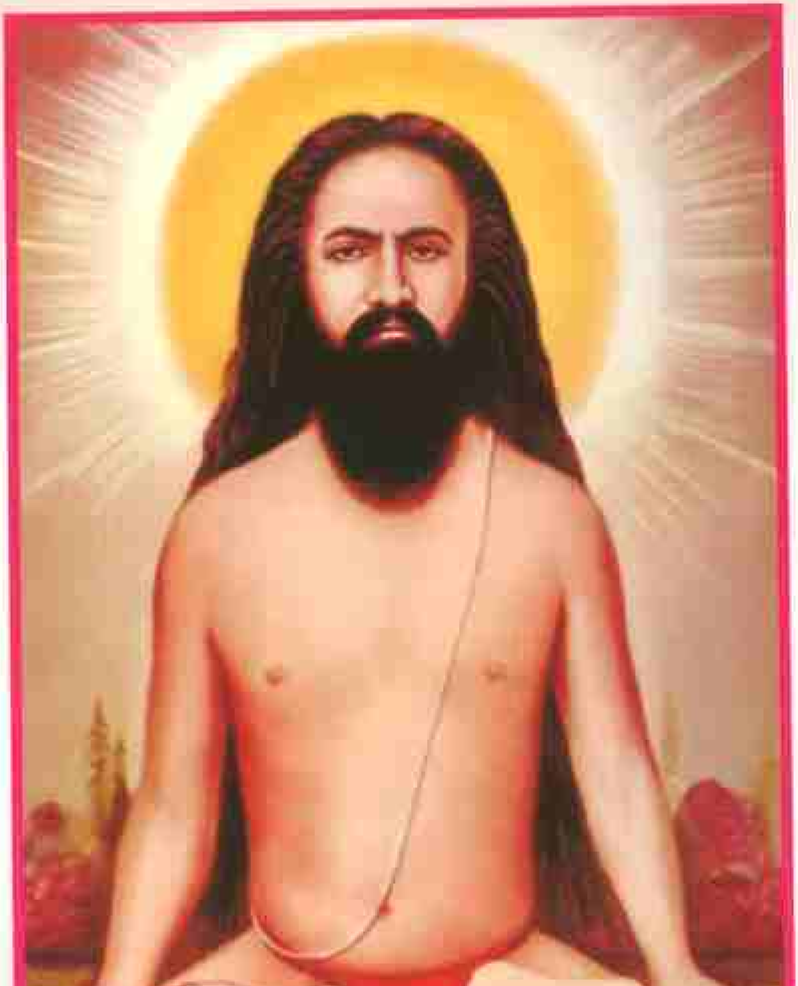

दादा गुरुदेव

योगेश्वर प्रभुश्री रामलालजी महाराज

सम्पादकीय–

परम गुरुदेव श्री प्रभु रामलाल जी महाराज का पावन प्राकट्य दिवस

आचार्य (डा०) रामलाल शर्मा

ईश्वर सर्वव्यापक और अनादि है। वह सृष्टि का सर्वप्रथम गुरु है। योग दर्शन में पतंजलि देव जी महाराज ने **' सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनान वच्छेदात् '** कहकर ईश्वर को सृष्टि का प्रथम गुरु कहा है। तीनों काल में विद्यमान रहने के कारण उनकी सत्ता अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहती है। वही ईश्वर समय–समय पर सगुण रूप में आकर प्रकट होते हैं और भक्तों की रक्षा तथा दुष्टों का संहार करते हैं– जैसा कि भगवान ने गीता के चौथे अध्याय में घोषणा की है। योग रूपी धर्म की स्थापना समय–समय पर प्रकट होकर करते रहते हैं। ईश्वर की भाँति महायोगियों का चरित्र भी अलौकिक होता है उनके चरित्र व इतिहास को जानना असंभव होता है। ऐसे योगी किसी भी स्थान पर, किसी भी समय प्रकट होकर अपना अभीष्ट कार्य किया करते हैं। उनका जन्म और कर्म मानुषी बुद्धि के द्वारा नहीं समझा जा सकता । वे ईश्वर के तुल्य ही होते है ऐसे ही एक महायोगी हुए हैं जो सृष्टि के अन्त तक हिमालय में अजर अमर रह कर वास करते हैं तथा योग विधि से काय– निर्माण कर पृथ्वी पर आते रहते हैं जिनका परम पावन नाम महाप्रभु रामलाल है। वे एक ही समय में अनेक स्थानों पर काय–निर्माण से शरीर बना कर योग विद्या के प्रचार–प्रसार के लिए प्रकट होते रहते हैं। ऐसे योगियों के काय–निर्माण से कार्य करने की बात उपनिषदों में वर्णित है।

" अचिन्त्य शक्तिमान योगी नाना रूपाणिधार येत्। " अचिन्त्य शक्तियों से सम्पन्न योगी नाना रूपों तथा नाना नामों से रहकर अपना अभीष्ट कार्य करते रहते हैं। ऐसे योगी अपने भक्तों के अविद्यादि क्लेश रूप दुः ख द्वन्द्वों को मिटा देते हैं। योग ध्यान की विधि द्वारा भक्तों को पूर्णतया योग मार्ग में लगाने के लिए तीव्र शक्तिपात कर कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर योग के गूढ़ रहस्यों को प्रकट कर उच्च भूमिकाओं में प्रवेश करा देते हैं। सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि का बोध करा देते हैं।

महाप्रभु रामलाल जी महाराज कल्पान्त जीवी अजर–अमर सिद्ध हैं। योग पृथ्वी से लुप्त प्रायः होता देखकर बीसवीं शताब्दी में योग विद्या के अनेक रूपों से योग का प्रचार किया है। वे योग के साक्षात् स्वरूप हैं। उनके श्वास–श्वास में योग की विभूतियाँ प्रकट होती हैं। वे सर्वसमर्थ हैं। **" कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् "** की शक्ति वाले हैं। अर्थात् अपनी इच्छा से ही किसी वस्तु का निर्माण कर लें , क्षण में किसी को सिद्ध बना दें तथा उनके विपरीत चलने पर नीचे गिरा दें यह सब सामर्थ्य उनमें विद्यमान हैं। सिद्धों की इच्छा के अनुरूप ही प्रकृति चलती है। पातंजल दर्शन में योग विभूतियों पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यास देव जी लिखते हैं कि योग सिद्ध योगियों की इच्छा के अनुसार प्रकृति उसी प्रकार से चलती है जिस प्रकार से सद्यः प्रसूत गौ अपने बछड़े के पीछे–पीछे चला करती है। श्री महाप्रभु जी ने कुछ दिन श्री सिद्धगुफा में

रहकर इस भूमि को प्रचार–प्रसार जन सामान्य में किया है। ये क्रियायें स्वास्थ्य के साथ–साथ नाड़ी शोधन द्वारा मन की एकाग्रता को भी प्रदान करने वाली हैं जिसे हर व्यक्ति कर सकता है यहाँ तक रोगी व्यक्ति भी उनका अभ्यास करके धीरे–धीरे पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। रोगों की निवृत्ति के लिये ये रामबाण हैं। कालान्तर में रोगी भी योग ध्यान में प्रवृत्त हो जाया करते हैं। भारतभूमि में शक्तिपात द्वारा योग विद्या को आगे बढ़ाने वाली संस्थायें बहुत ही कम हैं। पूर्ण योगीराज सिद्ध ही शक्तिपात का सामर्थ्य रखता है।

महाप्रभु रामलाल जी महाराज कल्पान्त जीवी अजर – अमर सिद्ध हैं। योग पृथ्वी से लुप्त प्राय: होता देखकर बीसवीं शताब्दी में योग विद्या के अनेक रूपों से योग का प्रचार किया है। वे योग के साक्षात् स्वरूप हैं। उनके श्वास–श्वास में योग की विभूतियाँ प्रकट होती हैं। वे सर्वसमर्थ हैं। " **कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तम्** " की शक्ति वाले हैं। अर्थात् अपनी इच्छा से ही किसी वस्तु का निर्माण कर लें, क्षण में किसी को सिद्ध बना दें तथा उनके विपरीत चलने पर नीचे गिरा दें यह सब सामर्थ्य उनमें विद्यमान हैं। सिद्धों की इच्छा के अनुरूप ही प्रकृति चलती है। पातंजल दर्शन में योग विभूतियों पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यास देव जी लिखते हैं कि योग सिद्ध योगियों की इच्छा के अनुसार प्रकृति उसी प्रकार से चलती है जिस प्रकार से सद्य: प्रसूत गौ अपने बछड़े के पीछे–पीछे चला करती है। श्री महाप्रभु जी ने कुछ दिन श्री सिद्ध गुफा में रहकर उस भूमि को पवित्र किया और उसे योग का हृदय बनाकर गये। इसकी रज योग विभूतियों से ओत–प्रोत है। सिद्ध पुरूष ही ऐसे योगियों के विषय में जान पाते हैं साधारण मनुष्य नहीं। उनके शिष्यों की लम्बी श्रृखला में देवरहा बाबा प्रभृति अनेक सिद्ध हैं जो हिमालय की कन्दराओं में अजर अमर हैं। श्री योगी हरीहरानन्द जी महाराज को श्री प्रभु जी ने एक क्षण में तत्त्व विजयी सिद्ध बना दिया जो आज भी शीशगिरी पहाड़ी पर समाधिस्थ हैं, ऐसा हमारे गुरुदेव योगीराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज हमें अपने श्री मुख से बतलाया करते थे।

श्री सिद्धगुफा से ही अनुप्राणित होकर सैकड़ों योग शाखायें देश–विदेश में चल रही हैं। हमारे गुरुदेव योगिराज जी ने अपने शिष्यों के मन में श्री प्रभुजी के अप्रतिम योग प्रभाव को स्थापित किया है इसी कारण से उनके शिष्य प्रभुजी को सदाशिव स्वरूप मान कर उनकी पूजा व ध्यान करते हैं तथा सफल मनोरथ होते हैं।

आपका अवतरण पंजाब प्रान्त के अमृतसर शहर में स्वनाम धन्य ज्योतिर्विद पं. गण्डाराम जी के घर में सन् 1888 में श्री राम नवमी के पावन पर्व में हुआ। श्री माता जी का नाम भागवन्ती देवी था। आप के जन्म कुण्डली को देखकर ही आप के महायोगी होने का प्रमाण मिल गया था। आप के पूर्वज भी बहुत शक्ति सम्पन्न महापुरूष हो चुके हैं जो अपने संकल्प मात्र से मृत बालक को जीवित कर देना, मन्त्रोच्चारण से ही अग्नि प्रज्वलित कर देना, वर्षा करा देना आदि अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न थे। इसी दिव्य कुल में प्रभुजी का अवतरण हुआ था। शैशवावस्था में ही आपके कार्य बड़े अलौकिक थे। चौदह वर्ष की आयु में ही विद्याध्ययन के बहाने से घर से निकल पड़े थे। सर्वप्रथम आप कुरुक्षेत्र पहुँचे। विद्याध्ययन के समय ही आपके कई चमत्कार विद्यार्थियों ने देखे।

एक दिन दोपहर विश्राम के समय आप विश्राम कर रहे थे तभी एक नाग इनके सिर पर छाया किये खड़ा था। कुछ देर बाद स्वत: ही गायब हो गया। वहाँ से आप काशी जी चले गये।

उस समय में बहुत से तांत्रिक मान्त्रिकों से आप की टक्कर हुई। आपने सभी की शक्तियों को परास्त किया और कुरीतियों तथा व्यभिचार के केन्द्रों को नष्ट किया। सभी आप की यौगिक शक्तियों के सामने नतमस्तक हुए। कुछ वर्षों बाद आप श्री धाम वृन्दावन की ओर चले आये तथा घूमते–घूमते बरहन गाँव के लोगों पर कृपा बरसाते हुए संवाई गाँव पहुँच गये। यहाँ प्यारे लाल आदि आपके परम भक्त बन गये। आप के मुख से निकली वाणी अक्षरशः सत्य होती थी। आपके दिव्य सानिध्य को पाकर सभी कृतकृत्य हो गये। आप के निर्विघ्न समाधि की स्थिति के लिए उचित जगह के लिए ग्राम वासियों ने गुफा बना दी। वहाँ कुछ वर्ष श्री प्रभुजी रहे तत्पश्चात् एक दिन चुपके से प्रातःकाल ही गुफा के बन्द द्वार से अणिमा सिद्धि से निकल कर आकाश मार्ग से हिमालय की ओर चले गये। वहाँ नेपाल में अपने गुरुदेव श्री महाप्रभु सदाशिव के निकट कई वर्ष रहने के बाद उनकी आज्ञा से ही योग विद्या के प्रसार के लिए पुनः मैदानों में आ गये। आपने संस्कारी भक्तों को योग मार्ग का उपदेश दिया। अपने भक्तों के आध्यात्मिक उन्नति के लिए जीवन तत्त्व की साधना के उपयोगी क्रियाओं का अन्वेषण करके भक्तों के मध्य प्रकाशित किया। अमर तत्त्व, फल तत्त्व आदि विशेष साधनों का प्रचार किया। इन क्रियाओं द्वारा जठराग्नि दीप्ति के साथ–साथ कुण्डलिनी जागरण के लिए शक्ति संचार की प्राचीन यौगिक आर्ष परम्परा को अक्षुण्ण बनाया। आपने कई सिद्धयोगी बनाये जिसमें ब्र. गोपालानन्द जी महाराज, श्री योगी मुल्खराज जी महाराज, गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज, श्री योगी नृसिंह मूर्ति जी, माता द्रोपदी देवी एवं ऋषिदेवी जी प्रमुख हुये। इन महान योगियों ने अध्यात्म योग व ध्यान योग का उपदेश अपने शिष्यों को दिया। सबसे अधिक प्रचार करने वालों में गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का नाम सर्वोपरि आता है। आप सच्चे अर्थों में श्रोत्रीय एवं ब्रह्मनिष्ठ योगी हुए जिनके लाखों शिष्य ध्यानयोग में दीक्षित होकर आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर हैं। संदेह न होने पर आज भी अपने साधकों का अज्ञान तिमिर दूर कर रहे हैं। श्री प्रभु जी की परम्परा के साधक भ्रमित नहीं रहते हैं। योग के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले होते हैं। योग में तर्क व विवाद का कोई स्थान नहीं है। ध्यान जन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा व विवेक ख्याति ही जन्म मरण के चक्र को छुड़ा देने वाली होती है। ' सिद्धयोग ' की परम्परा में यद्यपि सिद्धगुरुदेव सब कुछ स्वयं करने वाले होते हैं तथापि निमित्त मात्र से क्रिया योग की साधना का निरन्तर अभ्यास करते रहने की आज्ञा हमारे सद्गुरुदेव योगिराज जी की आज्ञा रही है। श्री प्रभु जी अपने भक्तों के लिए कल्पवृक्ष व कामधेनु के समान हैं सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हैं। साधक को चाहिए शुद्ध व निर्मल भाव से साधनारत रहे। श्री प्रभु जी अपने भक्तों के हृदय कमल पर सदा विराजमान रहते हैं। श्री सिद्धगुफा संवाई धाम में इस वर्ष श्री राम नवमी पर्व योग महामेला के रूप में 15,16 व 17 अप्रैल 2024 को धूमधाम से मनाया जा रहा है। उनके प्राकट्य दिवस के पावन अवसर पर उनके चरण–कमलों में सभी भक्तों का कोटि–कोटि नमन है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

श्रीमद्भागवत में योग परिचर्या

डॉ. विजय सिंह

स्कन्ध बारह के चौथे अध्याय में चार प्रकार के प्रलय की बात – श्री शुकदेव जी मृत्यु के संनिकट पहुँचे हुये राजा परीक्षित को बतलाते हैं।

राजन ! एक हजार चर्तुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इसी एक दिन को कल्प कहते हैं। एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। कल्प के अन्त में उतने ही समय तक प्रलय भी रहता है। इसे ब्रह्मा की रात कहते हैं। उस समय तीनों लोकों का प्रलय हो जाता है। इसका नाम नैमित्तिक प्रलय है। सारा विश्व को ब्रह्मा अपने में लीन कर लेते हैं तब भगवान् नारायण भी शयन करते हैं। यही ब्रह्मा का दिन–रात्रि का क्रम ब्रह्मा जी के मान से सौ वर्ष और मनुष्य की दृष्टि से दो परार्द की होती है। यह समय बीतने पर महत्तत्त्व, अहंकार और पंचमात्रायें ये मूल प्रकृतियाँ अपने मूल कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाती हैं। इसे प्राकृतिक प्रलय कहा गया है। इसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपना स्थूल रूप छोड़कर कारणरूप में स्थिति हो जाता है। प्रलयकालीन सांवर्तक सूर्य अपनी प्रचंड किरणों से समुद्र, प्राणियों और पृथ्वी का सारा रस सोख जाता है। प्रचण्ड वायु सौ वर्ष तक चलता रहता है। तब सैकड़ों वर्ष तक भयंकरता के साथ वर्षा होती है। सब कुछ जलमग्न हो जाता है।

जल पृथ्वी के विशेष गुण गन्ध को अपने में लीन कर लेता है। उससे पृथ्वी का प्रलय हो जाता है। जल को तेजस्तत्व अपने में लीन कर लेता है। वायु तेज को अपने में लीन कर लेता है। अब आकाश वायु के गुण स्पर्श को अपने में लीन कर शान्त हो जाता है। आकाश के गुण शब्द को तामस अहंकार अपने में लीन कर लेता है। तैजस अहंकार इन्द्रियों को और सात्विक अहंकार इन्द्रियों के अधिदेव को अपने में लीन कर लेता है। तत्पश्चात महत्तत्त्व अहंकार को और सत्त्व आदि गुण महत्तत्त्व को अपने में लीन कर लेती है। तब मूल प्रकृति शेष रह जाती है। यह सब काल की महिमा है। प्रलय के समय प्रकृति साम्यावस्था को प्राप्त हो जाती है। तब काल के अवयव वर्ष मास, आदि विकार नहीं होते । इसी अवस्था का नाम 'प्राकृत प्रलय' है। उस समय प्रकृति और पुरुष अपने मूल–स्वरूप में लीन रहते हैं।

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा।

शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः।।

22.4.12

परीक्षित ! अब आत्यन्तिक प्रलय (मोक्ष) का स्वरूप बताता हूँ। बुद्धि, इन्द्रिय और उनके विषयों के रूप में उनका अधिष्ठान, ज्ञानस्वरूप वस्तु ही भासित हो रही है। उनका आदि और अन्त है। वे दृष्य हैं। वे सर्वथा मिथ्या–माया मात्र हैं। जैसे दीपक, नेत्र और रूप ये

तीनों तेज से भिन्न नहीं है। उसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रिय और विषय ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। परीक्षित ! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें बुद्धि की हैं। अतः इनके कारण अन्तरात्मा में जो विश्व, तेजस और प्राज्ञरूप नानात्व की अनुभूति होती है, वह केवल माया मात्र है। इसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।

मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि।

25.4.12

यह प्रपंच रूप विकार का अस्तित्व ब्रह्मस्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है। यदि आत्मा से अलग मान भी लिया जाए तो आत्मा के समान स्वंयप्रकाश होगा, ऐसी स्थिति में भी आत्मा की भाँति एक रूप सिद्ध होगा। देखो, बादल सूर्य से उत्पन्न होकर, सूर्य से ही प्रकाशित है, फिर भी सूर्य के ही अंश नेत्रों के लिये सूर्य का दर्शन में बाधक बन जाता है। इसी प्रकार अहंकार भी ब्रह्म से ही उत्पन्न होता, ब्रह्म से ही जाना जाता और ब्रह्म अंश जीव के लिये ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार में बाधक बन बैठता है। जब बादल हट जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूप सूर्य का दर्शन करने में समर्थ होता है। ठीक वैसे ही, जिज्ञासा, साधना से जब अहंकार नष्ट हो जाता है तब स्वरूप का साक्षात्कार सहज में हो जाता है।

घनो यदार्कप्रभावो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।

यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्।।

33.4.12

प्रिय परीक्षित ! जब जीव विवेक के तलवार से मायामय अहंकार बंधन को काट देता है, तब वह अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। आत्मा की यह मायारहित यथार्थ स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है।

यदैवमेतेन विवेकहेतिना, मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।

छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते, तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम्।।

34.4.12

परीक्षित! तत्त्वदर्शी कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर तिनके तक जितने प्राणी या पदार्थ हैं, सभी हर समय पैदा होते और मरते रहते हैं। नित्य एवं निरंतर युगपत उत्पत्ति और प्रलय होता ही रहता है।

नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परंतप।

उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते।।

35.4.12

भगवान शुकदेव जी कहते हैं– देखो ! मैंने तुमसे चार प्रकार के प्रलय का वर्णन

किया– नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृतिक प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय। वास्तव में काल की गति अति सूक्ष्म है। जो कुछ मैंने सुनाया यही भागवत पुराण है। इसे सनातन ऋषि नर–नारायण ने पहले नारद जी को सुनाया था। नारद जी ने मेरे पिता महर्षि कृष्णद्वैपायन को सुनाया था। पिताश्री ने प्रसन्न होकर मुझे भागवत धर्म का उपदेश किया। आगे चलकर नैमिषारण्य क्षेत्र में शौनकादि ऋषियों के प्रश्न करने पर पौराणिक वक्ता श्री सूतजी उन लोगों को श्रवण करायेंगे।

बारहवें स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में श्रीशुकदेव जी ने अपना अन्तिम उपदेश राजा परीक्षित को दिया है। श्री शुकदेव जी कहते हैं– प्रिय परीक्षित ! ब्रह्मा और रुद्र भी श्री हरि से पृथक नहीं है। इस भागवत पुराण में सर्वत्र भगवान श्रीहरि का ही संकीर्तन हुआ है। अब तुम अविवेक पूर्ण धारणा दौड़ दो कि मैं मरुँगा। मन ही आत्मा के लिए शरीर, विषय और कर्मों की कल्पना कर लेता है। अविद्या (माया) मन की जननी है। वही जीव के संसार चक्र में पड़ने का कारण है। आत्मा की उपमा आत्मा ही है। हे राजन ! तुम विशुद्ध बुद्धि को परमात्म चिंतन से युक्त करके अपने अंतर में परमात्मा का साक्षात्कार करो। तुम मृत्युओं की भी मृत्यु हो। तुम स्वयं ईश्वर हो। शाप से प्रेरित तक्षक तुम्हें भस्म न कर सकेगा। तुम चिंतन करो– परब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार तुम अपने स्वरूप में अपने को स्थित करलो।

आत्मस्वरूप बेटा परीक्षित! तुमने भगवान की लीला के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया, उसका उत्तर मैंने दे दिया अब और क्या सुनना चाहते हो ?

एतत्ते कथितं तात यथाऽऽत्मा पृष्टवान् नृप।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।।

13.5.12

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

जीव को प्रदत्त अद्भुत शक्तियाँ

अनु. राम यादव (श्री गुरुदेव भगवान का एक अकिंचन बालक)

प्रात: स्मरणीय हमारे आप के प्राण धन सर्व समर्थ सर्वशक्तिमान ॐ त्तर्यामी आनन्दकन्द योग योगेश्वर अनन्त श्री दादा गुरुदेव एवं सद्गुरुदेव भगवान के पावन कमलवत् चरणों में कोटिश: नमन और सभी आदरणीय भाई–बहनों को सादर जयगुरुदेव ! अखण्ड ब्रह्माण्ड नायक परम पिता ने शक्तियाँ प्रदान की हैं, उनका विस्तार से वर्णन करना सम्भव नहीं है। उन शक्तियों का सद्उपयोग कर सकता है और उन शक्तियों का दुर्युपयोग करके अध: पतन को प्राप्त हो जाता है। आइए, कुछ जीवों की कुछ महत्वपूर्ण शक्तियों पर विहंगम दृष्टि डालें।

परमपिता परमेश्वर ने मानव को जितनी भी शक्तियाँ प्रदान की हैं उनमें दो शक्तियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वे हैं– मन की शक्ति और वाणी की शक्ति। मन की शक्ति का आभास तो तब होता है, जब मन एकाग्र हो, शान्त हो। योग सिद्धान्त में ऐसा कहा गया है कि योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से ही शुरू होती है। मन अगर संसार के प्राणी–पदार्थों में बिखरा है तब तक उसकी शक्ति का पता नहीं चलता। जब मन अपने को संसार से हटाकर किसी एक लक्ष्य में लग जाता है तब उसकी अद्भुत शक्ति का पता चलता है। सूर्य की किरणें चारों तरफ बिखर रही हैं उनका हमारी त्वचा पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता लेकिन जब वही किरणें आतशी शीशे के माध्यम से इकट्ठी होकर कागज पर पड़ती हैं तब कागज को जलाकर भस्म कर देती है। सन्तों का तो यहाँ तक कहना है कि बिना मन की शक्ति के कोई कार्य सम्भव ही नहीं है। अगर मन कहीं और है, मेरे सामने से कोई गुजर जाए तो आँखें खुली होने पर भी उसे देख नहीं पाती। सामने कोई व्यक्ति बात कर रहा है, कभी–कभी हम कह उठते हैं कि आप ने क्या कहा– मैंने सुना नहीं! उसकी बात इसलिए नहीं पड़ी क्यों कि मन कहीं अन्यत्र था।

ऐसा हम सबका थोड़ा बहुत अनुभव अवश्य होगा। जितने भी वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं, वे सब वैज्ञानिकों की मन की एकाग्रता से ही सम्भव हो सके हैं। मन की एकाग्रता में वह अद्भुत शक्ति है जो कीट को भ्रमर के रूप में परिवर्तित कर देती हैं। हमारे शास्त्र इस सत्य को प्रमाणित करते हैं। मन की एकाग्रता से ही योगाभ्यासी धीरे–धीरे योग की सर्वोच्च स्थिति निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है।

जैसे एकाग्र मन को एक निश्चित लक्ष्य में नियोजित करने से उपरोक्त परिणाम देखने को मिलते हैं, वैसे ही आत्म नियंत्रित मन को किसी स्थान विशेष से हटा दें तब भी बड़े ही विलक्षण परिणाम देखने को मिलते हैं। कुछ सच्ची घटनाएँ जो सन्तों के मुखारविन्द से सुना है, संक्षेप में उनका उल्लेख करना उचित समझ रहा हूँ–

एक बार एक व्यक्ति को सर्पकाट लिया लेकिन सर्प को उसने देखा नहीं। थोड़ी देर में उसी स्थान से एक चूहा निकल कर भागा। उस व्यक्ति ने सोचा, इसी चूहे ने ही काटा है। सर्प की तरफ उसका मन गया ही नहीं। सर्प के विष का उस पर कोई असर नहीं हुआ और वह बिना दवा के

धीरे–धीरे ठीक हो गया। यह क्या था– उस व्यक्ति ने अपने मन को सर्प से बिल्कुल हटा लिया था, इसका परिणाम यह हुआ कि सर्प के जहर का उसके ऊपर कोई असर नहीं हुआ। वहीं दूसरी तरफ एक बार एक व्यक्ति को चूहा काट लिया और थोड़ी देर बाद उसी स्थान से एक सर्प निकला। सर्प को लोगों ने मार दिया और शोर हो गया कि अमुक व्यक्ति को सर्प काट लिया। उस व्यक्ति ने मन से मान लिया कि उसे सर्प ने ही काटा है, उसका मन चूहे की तरफ गया ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि उसकी हालत धीरे–धीरे बिगड़ती गई और अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु हो गई। महान आश्चर्य तो तब हुआ जब पोस्टमार्टम रिपोर्ट में सर्प का जहर निकला, जब कि सर्प ने उसे काटा ही नहीं था। यह है, मन की शक्ति का खेल।

मन की शक्ति का एक दूसरा दृष्टान्त देखिए ! पूर्ण नियंत्रित मन वाले एक साधक का किसी एकसीडेंट में उसका बाँया हाथ कट कर, अलग हो गया। भलीभाँति वह साधक जानता था कि मैं यह शरीर नहीं हूँ। दर्द शरीर को हो सकता परन्तु मुझे दर्द नहीं हो सकता– ऐसी उसके मन में पक्की धारणा थी। साधक अपने मन को कटे हुए बाँये हाथ को लेकर वह साधक एक डाक्टर के पास गया और कहा– डॉक्टर साहब, मेरा हाथ कट कर अलग हो गया है, क्या आप इसे जोड़ सकते हैं ? डॉक्टर ने कहा, खून काफी निकल चुका है, हाथ जुड़ नहीं पायेगा। मैं कटी जगह पर मरहम पट्टी करके दवा दे देता हूँ। उस साधक ने कहा– डाक्टर साहब मेरे कटे हुए बाँये हाथ में घड़ी है, कृपया उसे निकाल कर मेरे दाहिने हाथ में घड़ी है, कृपया उसे निकाल कर मेरे दाहिने हाथ में पहना दीजिए क्योंकि एक हाथ से मैं पहन नहीं पाऊँगा। इस घटना में भी अगर हम ध्यान से देखें तो मन की शक्ति का ही कमाल है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ मन की अद्‌भुत शक्ति का स्पष्ट एवं विलक्षण परिणाम देखने को मिलता है।

मानव को प्रदत्त दूसरी महत्वपूर्ण शक्ति है– वाणी की शक्ति। अनावश्यक वार्तालाप, गप–शप, वाद–विवाद एवं किसी के ऊपर क्रोध करने से वाणी की शक्ति का अधिकतम् क्षय होता है। वाणी की शक्ति का संरक्षण उसके नियंत्रण में होता है। एक सन्त ने कहा है–

" वाणी एक अमोल है, जो कोई बोले जानि।

हिये तराजू तौलि के, तब मुख बाहर आनि।। "

इस सूत्र को अपना कर वाणी की शक्ति का संरक्षण किया जा सकता है। मौन भी वाणी की शक्ति के संरक्षण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सत्य बोलने का व्रत धारण करने वाले व्यक्ति की वाणी अधिकतम् शक्ति सम्पन्न होती है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ कहता है वैसा अवश्य हो जाता है। वर–शाप इसी वाणी शक्ति का ही अद्‌भुत परिणाम है।

अन्य कुछ ऐसे जीव हैं जिन्हें ईश्वर ने कुछ ऐसी शक्ति प्रदान की है, उस शक्ति का परिणाम को देख कर विश्वास नहीं होता कि क्या ऐसा भी हो सकता है ? जैसे कछुआ का उदाहरण लें। कछुआ अपने प्रजनन काल में पानी से निकल कर बाहर रेत में चला जाता है। रेत में गड्ढा करके उसके अन्दर अण्डा देता है। अण्डा देने के बाद वह पुनः जल में वापस आ जाता है। जल में एक जगह स्थिर होकर अपना आहार त्याग कर वह केवल अपने अण्डों का ही मन से निरन्तर ध्यान करता है। कछुआ कहाँ है और अण्डे कहाँ हैं फिर भी उसके इस गहन ध्यान की शक्ति से ही उन अण्डों का सम्बर्धन, जीव का निर्माण एवं उसका पोषण होता है। कछुआ की अनुपस्थिति में ही अण्डों से बच्चे निकल आते हैं। इसके बाद कछुआ जल से निकल कर अपने बच्चों के पास जाता है

और उन्हें मार्ग दर्शन करते हुए जल में लेकर आता है। ऐसी अद्भुत शक्ति उस परम पिता परमेश्वर ने कछुआ ऐसे जीव को प्रदान किया है।

मछली का उदाहरण लें। मछली पानी में अण्डा देती है। अण्डों से हटकर कुछ दूर चली जाती है। वहीं से बगैर हिले–डुले, बगैर आहार लिये, बगैर दृष्टि को इधर–उधर घुमायें एक टक केवल और केवल अपने अण्डों को ही देखती रहती है। वाह रे, अद्भुत दृग–शक्ति । उसी दृग–शक्ति से ही उन अण्डों का विकास जीव का निर्माण एवं उनका पोषण होता है। मछली कभी अपने अण्डों के पास नहीं जाती बल्कि उसकी दृग् शक्ति के बल पर बच्चे स्वयं अण्डों से बाहर निकलते हैं और अपनी जीवन यात्रा शुरू करते हैं। कभी–कभी सहज मन को विश्वास नहीं होता कि क्या मछली के एक टक देखने मात्र से बच्चे पैदा हो जायेंगे। विश्वास मानिए यह केवल कथन मात्र नहीं है, बल्कि वास्तविकता है। ईश्वर ने मछली को ऐसी अद्भुत शक्ति प्रदान की है। नेत्र की शक्ति का जीता जागता उदाहरण त्राटक है।

त्राटक–सिद्ध व्यक्ति अगर पानी–भरे गिलास पर त्राटक करता है और जैसे ही झटके से अपनी दृष्टि उस गिलास से हटाता है वैसे ही गिलास गिर जाता है। यह है दृग्–शक्ति का प्रभाव।

इसी प्रकार पक्षी जब अण्डा देती है तो वह केवल अण्डों का स्पर्श करती है। दाना–पानी छोड़कर चौबीस घन्टे पक्षी अपने अण्डों पर बैठ कर स्पर्श करती है। उस स्पर्श शक्ति से ही धीरे–धीरे अण्डों में विकास होता है, उनमें जीव आता है और एक दिन उन्हीं अण्डों से बच्चे बाहर निकल आते हैं। स्पर्श में वह शक्ति है जिससे अण्डों से बच्चे पैदा हो जाते हैं। ईश्वर ने पक्षी ऐसे जीव को ऐसी अद्भुत शक्ति प्रदान की है, जो एक चमत्कार से कम नहीं है।

अन्य जीवों से भिन्न मानव एक विवेकशील प्राणी है, उसे भली–भाँति ज्ञान है कि किस मार्ग से चल वह शक्ति सम्पन्न हो सकता है और किस रास्ते पर चलने से वह शक्ति खोकर पतित हो सकता है। ईश्वर ने जो हमें मन और वाणी की अद्भुत शक्ति प्रदान की है, वह शक्ति हममें पूरी की पूरी बनी रहे, इसके लिए हमें पूर्ण सजग रहकर उन शक्तियों के दुर्युपयोग से बचना चाहिए। हमें हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हम किसी को कभी मन और वाणी से कष्ट न दें। हमारे गुरुदेव भगवान कहा करते थे कि शक्ति सम्पन्न साधक यदि क्रोध में आकर किसी को नुकसान पहुँचाने की दृष्टि से कुछ कहता है तो उस व्यक्ति का अनिष्ट तो हो जाता है साथ ही साथ तत्काल उस साधक की शक्ति भी चली जाती है। अतः मन और वाणी से कभी किसी का अहित करने का विचार भी नहीं करना चाहिए।

अपनी भूलों और त्रुटियों के लिए क्षमा याचना करते हुए, मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ।

" सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वेभवन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुख भाग भवेत।। "

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

साधन-सिद्धि का उपाय

श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह एम.ए.

महर्षि पतंजलि जी ने साधन को दृढ़ बनाने तथा उसको सिद्धि की चरम सीमा तक ले जाने का उपाय बतलाये हुए लिखा है–

सतु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़भूमिः।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि अभ्यास को दृढ़ भूमि बनाने के लिये धैर्य के साथ दीर्घ काल पर्यन्त निरन्तर आदरपूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस सूत्र में तीन बातें बताई गई हैं– (1). दीर्घकाल, (2). निरन्तर तथा (3). श्रद्धा और उत्साह।

दीर्घकाल– साधना में काल की कोई सीमा नहीं। कालकी अवधि साधक के अन्त:करण की भूमिका पर निर्भर रहती है। यदि किसी साधक का अन्त:करण अधिक निर्मह है तो उसे अभ्यास को दृढ़–भूमि बनाने में कम समय लगेगा, किन्तु जिसका अन्त:करण अपेक्षाकृत कम निर्मल है, उसे अधिक समय लगेगा। इसके अतिरिक्त जिन साधकों ने पूर्व जन्म में साधना की कुछ मंजिलें तय करलीं हैं उनकी अपेक्षा उन साधकों को अधिक समय लग सकता है जिन्होंने पूर्व जन्म में इस प्रकार की कोई मंजिल तय नहीं की है। इसके अतिरिक्त जिन साधकों ने पूर्व जन्म में साधना की कुछ मंजिलें तय करलीं हैं उनकी अपेक्षा उन साधकों को अधिक समय लग सकता है जिन्होंने पूर्व जन्म में इस प्रकार की कोई मंजिल तय नहीं की है। इसके अतिरिक्त जिस साधक में वैराग्य की मात्रा अधिक होती है, वह अन्य लोगों की अपेक्षा थोड़े ही समय में अपनी साधना के लिए कुछ महीनों या वर्षो की सीमा नहीं बाँधी जा सकती। साधक को महीनों और वर्षो तो क्या कई जन्मों के लिए कमर कसकर तैयार होना पड़ेगा। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

जनेकजन्मसंसिद्धिः ततो याति परांगतिम्

अर्थात् अनेक जन्मों से अन्त:करण की शुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ और तीव्र प्रयत्न से अभ्यास करने वाला योगी सम्पूर्ण पापों से अच्छी प्रकार शुद्ध होकर, उस साधन के प्रभाव से परम गति को प्राप्त होता है। कुछ लोग दीर्घकाल का नाम लेते ही चौंक जाते हैं, निराश हो जाते हैं और परिणामत: या तो साधना प्रारम्भ ही नहीं करते या प्रारम्भ करते भी हैं तो उसे बीच में ही छोड़ बैठते हैं। ऐसा करने के तीन कारण मुख्य हैं–

(क). श्रद्धा की न्यूनता, (ख). धैर्य की कमी और (ग). गुरु में भक्ति का अभाव। इन तीनों कारणों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

नैरन्तर्य– साधना को निरन्तर बिना नागा किये करते रहना चाहिए यदि किसी साधक ने एक सप्ताह अभ्यास किया और उसके पश्चात एक दिन नागा कर दी, तो उसका करना और न करना बराबर हो गया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगा लेना चाहिए कि उस एक सप्ताह में

उसने कुछ प्रगति अवश्य की किन्तु नागा कर देने के कारण उसकी प्रगति में एक भारी अवरोध आ गया। अतः साधक के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह अपने अभ्यास को निरन्तर अर्थात लगातार करता चला जाये।

श्रद्धा और उत्साह:– साधक को चाहिए कि वह अपने अभ्यास को आदर पूर्वक और प्रेम के साथ करें नहीं तो अपने लक्ष्य में चित्त को एकाग्र रखना कठिन हो जाएगा। जो अभ्यास आदर, भाव, और प्रेम पूर्वक किया जाता है वह अभ्यास सफल होता है। अभ्यास को आदर पूर्वक और बिना उकताए हुए चित्त से जारी रखने के लिए धैर्य श्रद्धा, धैर्य तथा गुरुदेव के वचनों में अटूट विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि :–

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम चिरेणाधि गच्छति।।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायंलोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।

हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है, ज्ञान को प्राप्त होकर लक्षण भगवत् प्रांप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन भगवत् क्रिया को न जानने वाला तथा श्रद्धा रहित और संशय युक्त पुरुष के लिए न परलोक अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिए भ्रष्ट हो जाते हैं।

सत्वा नुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः योयच्छ्रऽद्धः स एव सः।।

अर्थात्, मनुष्य की श्रद्धा उसके सत्व के अनुरूप ही होती है। जो जिस प्रकार की श्रद्धा वाला होता है वह वैसा ही हो जाता है।

इस श्लोक से यह तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि श्रद्धा का उद्‌गम स्थान सतो गुण है। जिसमें जितना ही अधिक सतो गुण की मात्रा होगी उसमें श्रद्धा का परिणाम भी उतना ही अधिक मात्रा में अधिक होगा। अतः अपनी श्रद्धा को वृढ़ तथा उत्कृष्ट बनाने के लिए साधक को सतोगुण का अधिकाधिक विकास करना चाहिए और मन की सजीव राजसी तथा तामसी वृत्तियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

श्रद्धा मातेव योगिनं पानि।

अर्थात्, श्रद्धा माता की तरह योगी की रक्षा करती है। जिस योगी में अपनी साधना के प्रति श्रद्धा नहीं है उसका रक्षक भी कोई नहीं होता यही कारण है कि वह अपने मार्ग से फिसला रहता है धीरे–धीरे निराशा उसको घेरने लगती है और अन्त में वह उस साधना को छोड़कर दूसरी साधना को ग्रहण करता है। इस प्रकार वह एक के बाद दूसरी साधनाएँ ग्रहण करता चला जाता है और सफलता उसे किसी भी साधना द्वारा प्राप्त नहीं होती। इसी असफलता को लिये हुए अन्त में वह अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर देता है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते है–

श्रेयान्यस्वधर्मो विगुणः परर्धात्स्वष्ठितात्।

अर्थात्, अपना मार्ग दूसरे मार्ग की अपेक्षा भले ही कम आकर्षक तथा अधिक श्रम साध्यजान पड़े तो भी उसमें लगे रहने में ही साधक का कल्याण है। साधक का मन दूसरी साधना को अधिक आकर्षक तथा सहज साध्य मानकर उसको बहकाता है। किन्तु सावधान !

स्वधर्मे निधनश्रेयः परधर्मो भयावहः।

अपनी ही साधना करते यदि आयु भी समाप्त हो जाय तो भी साधक का कल्याण ही है। किन्तु अपनी साधना को छोड़कर दूसरी साधना को ग्रहण करना विषयजनक है। योगी जब योग के मार्ग पर पैर रखता है तो वह इस पूर्व मान्यता के साथ आगे बढ़ता है कि–

योग सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य सारे सिद्धान्त उसके लिए महत्व हीन हैं। वह अन्य सिद्धान्तों तथा अन्य साधनाओं की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता और न तो उन की चर्चा ही सुनना चाहता है।

जो साधक चार– छै महीने या दो–चार वर्ष साधना करने के पश्चात यह विचार करने लगता है कि उसने इतने दिनों तक साधना की किन्तु परिणाम कुछ भी दिखलायी नहीं देता, ऐसा साधक ही अपने धैर्य को खो बैठता है। किन्तु यह सब होता है उसकी श्रद्धा के कारण। साधक को योग वाशिष्ठ का यह श्लोक नहीं भूलना चाहिए:–

कालेन परिपच्यन्ते कृषि गर्भादयो यथा।
एवमात्म विचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते।।

अर्थात्, जैसे बीज बोने के बाद अंकुर निकलते में देर लगती है और माता के उदर में गर्भ के परिपक्व होने में समय लगता है, उसी प्रकार साधना के परिपक्व होने में समय लगता है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि साधक के चित्त की स्वस्थता अथवा अस्वस्थता ही इसके साधन की परिपक्वता में शीघ्रता अथवा विलम्ब के लिए उत्तरदायी है। उदाहरण के लिए हम साधक के चित्त की उपमा बीज से देते हैं। एक गेहूँ का बीज तीन या चार दिनों में ही अंकुरित हो जाता है किन्तु एक बेर के बीज के अंकुरित होने में कई महीने लग जाते हैं। अतः जिस प्रकार भिन्न बीजों के अंकुरित होने में भिन्न समय लगता है उसी प्रकार भिन्न साधकों की साधनाएँ भी भिन्न समयों में सिद्ध होती हैं। यह सब साधक के श्रम तथा उसका तीव्र, मध्य अथवा मृदु संवेग से की गयी साधना पर निर्भर रहता है। अतः साधक को किसी भी दशा में अकुलाने और निराशा होने की आवश्यकता नहीं है। साधन–

साधना में श्रद्धा की कमी का कारण गुरु भक्ति का अभाव भी है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है :–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कार्यता ह्यर्था प्रकाशयन्ते महात्मनः।।

अर्थात्, जिस साधक का ईश्वर में पूर्ण अनुराग होता है और उसकी जिस प्रकार की अटूट श्रद्धा ईश्वर में है उसी प्रकार गुरु देव में भी है उसको जो साधना बताई जाती है वही सिद्ध होकर परमात्मा का साक्षात्कार करा देती है। इस प्रकार का साधक न तो अपनी साधना में कभी न्यून भाव ही रखता और न किसी दूसरी साधना को ग्रहण करने की बात ही सोचता है।

श्रद्धावान साधक अपनी साधना को सर्वश्रेष्ठ समझता है किन्तु अन्य साधनाओं से द्वेष नहीं करता। वरन् गौण मानता है।

साधना में अडिग धैर्य तथा अटूट विश्वास की आवश्यकता होती है। एक गुरु के कई शिष्य एक साथ एक ही प्रकार की साधना आरम्भ करते हैं। उनमें से कुछ को तो शीघ्र ही अनुभव जारी हो जाते हैं, कुछ को देर से और कुछ को कभी नहीं। इसके अतिरिक्त उनमें से कुछ को कभी नहीं। इस के अतिरिक्त उनमें से कुछ को उच्चकोटि के अनुभव होते हैं कुछ को मध्यम कोटि के और कुछ को बिल्कुल नहीं। ऐसी हालत में यह सम्भव है कि जिन साधकों को कभी कोई अनुभव नहीं हुआ वे एक दम निराश हो जायें, और जिन्हें मध्यम कोटि का तथा देर से अनुभव हुआ वे थोड़ा निराश होने लगें। किन्तु इन दोनों कोटि के लोगों का निराश होना एक दम गलत है। उन्हें यह नहीं मान लेना चाहिए कि उन्होंने अपनी यात्रा की कुछ मंजिल तय नहीं की या बहुत थोड़ी मंजिल तय की। यदि तीनों ने एक ही साधना बराबर समय तक की तो तीनों को बराबर क्यों नहीं दीखता। इस प्रश्न का उत्तर हम एक उदाहरण द्वारा देने का प्रयत्न करते हैं। मान लीजिए तीन व्यक्ति किसी सेठ के यहाँ नौकरी करते हैं प्रत्येक को उस सेठ से दो सौ रुपये मासिक मिलने की बात तय है। उन तीनों में से दूसरे व्यक्ति के पिता ने सेठ से एक सौ रुपये कर्ज लिया तथा तीसरे व्यक्ति के पिता ने दो सौ रुपये कर्ज लिया था किन्तु प्रथम व्यक्ति के ऊपर कोई कर्ज नहीं था। किन्तु इस बात को सेठ के सिवाय कोई नहीं जान पाया। मास के अन्त में सेठ ने पहले व्यक्ति को दो सौ रुपया तथा दूसरे व्यक्ति को एक सौ रुपया दिया किन्तु तीसरे को कुछ भी नहीं दिया। क्योंकि उसने दूसरे व्यक्ति का एक सौ रुपया कर्ज तथा तीसरे व्यक्ति का दो सौ रुपया कर्ज काट लिया। इस तरह यद्यपि सेठ ने तीनों को बराबर पारिश्रमिक दिया किन्तु अपनी अनभिज्ञता के कारण दूसरे तथा तीसरे व्यक्ति निराश हुए। अब यदि ये तीनों व्यक्ति निराश न होकर अपने कार्य में लगे रहें तो तीनों को दूसरे मास के अन्त में समान परिणाम दिखाई देगा।

धैर्य के सम्बन्ध में स्वामी श्री चिदानन्द जी सरस्वती ने एक बड़ा अच्छा दृष्टान्त दिया है जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है।

" एक अच्छे तराजू को डोरी से ठीक बाँधकर कटी इस प्रकार टाँग दो कि जमीन से वह कुछ ऊपर रहे। एक पलड़े में चालीस तोले के वजन का एक बाँट रख दो। अब इसी भार के चने दूसरे पलड़े पर रखने हैं। प्रतिदिन एक–एक चना रखें तो चने का एक वाल होता है और 32 वाल का एक तोला होता है। इस हिसाब से एक तोले में 96 चनें आयेंगे और 40 तोला बराबर होगा 3840 चनों के। अब 360 दिन क एक वर्ष होता है, तो 10 वर्ष में 3600 दिन होंगे। बाकी बचे 245 चने। उसके 30 दिन के एक मास के हिसाब से 8 मास होते हैं। अर्थात् रोज 1 चना रखने से पलड़े पर उस बाँट के वजन के चने 10 वर्ष 8 मास में पूरे होंगे और दोनों पलड़े सम रेखा में आ जायेंगे। दूसरे दिन 1 चना और रखने से चने वाला पलड़ा नीचे झुक जायेगा और बाँट वाला पलड़ा ऊपर उठ जाएगा, इसी प्रकार यदि हम प्रति दिन साधना करते जायें और वह भाव से तथा प्रेम पूर्वक हो तो धीरे–धीरे पुराने संस्कार धुलते जायेंगे। और नये संस्कार पड़ते जायेंगे। यह काम चनों के समान बहुत धीरे–धीरे होता है। इसमें कितनी प्रगति हो रही है, यह जानने का कोई साधन नहीं है। इसी कारण साधक घबरा जाता है और अधिक से अधिक चार–पाँच वर्ष

साधना करके फिर उसे छोड़ देता है। ऊपर के दृष्टांत में हमने स्पष्ट देखा है कि जो कार्य धीमी गति से होता है, वह पूरा होता है। तभी उसकी सिद्धि देखने में आती है, यही बात साधना में भी समझनी चाहिए। चित्त का संस्कार अवश्य धुलता है, नया शुभ संस्कार पड़ता जाता है। पुराने जब तक सारे संस्कार धुल न जाये और उनके स्थान में शुभ संस्कार दृढ़ न हो जाए, तब तक कोई परिणाम देखने में नहीं आता।

पत्रिका

आय-व्यय

2023 - 2024

आय	व्यय
(1). बैंक में जमा पिछला = 8,85,484.00	कागज, छपाई = 1,45,000.00
(2). वार्षिक शुल्क व सहयोग = 1,70,570.00	लिफाफे = 11000.00
	कार्यलय खर्च व टिकट = 20000.00
	बैंक में जमा = 8,80,054.00
10,56,054.00	10,56,054.00

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

आध्यात्मिक प्रगति

प्रो. ऋषिराम शर्मा, लखनऊ

पुरुष तथा प्रकृति के रहस्यों के ज्ञान में प्रगति को ही आध्यात्मिक प्रगति कहा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने प्रकृति को क्षेत्र तथा पुरुष को क्षेत्रज्ञ कहा है कि देवात्मशक्ति माया ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए माया के आवरण में क्षेत्रज्ञ तथा क्षेत्र का संयोग किया है ताकि

" स्वस्वामीशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोग "

(योगदर्शन 2/23)

अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष के स्वरूप (ऐश्वर्य) की उपलब्धि के निमित्त प्रकृति का क्षेत्र (दृश्य) तथा पुरुष का क्षेत्रज्ञ (दृष्टा) के रूप में संयोग हुआ है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि

क्षेत्रज्ञमपि तु मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानं यत्तद् ज्ञानं मतं मम।।

(गीता 13/2)

अर्थात् समस्त क्षेत्रों (जड़ तथा चेतन सृष्टि) में क्षेत्रज्ञ स्वयं पुरुष (परमात्मा) ही है। क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेदज्ञान ही परमात्मज्ञान है। इसी उद्देश्य के लिए यह संयोग हुआ है। दृश्य की परिभाषा में महर्षि पतंजलि का भी यही कथन है कि –

" प्रकाशस्तिथिक्रियाशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् "

(योगदर्शन 2/18)

अर्थात् इस त्रिगुणात्मक तथा पंचभूतात्मकस्थूल तथा सूक्ष्मभावों वाले दृश्यजगत का उद्देश्य भोक्ता को भोग तथा जिज्ञासु को मोक्ष प्रदान करना है। मायापाश से जीवात्मा (भोक्ता) की मुक्ति अथवा क्षेत्रज्ञ की परमात्मभाव में स्थिति को ही ' मोक्ष ' कहते हैं। प्रकृति तथा पुरुष में माया तथा मायावी जैसा सम्बन्ध है, शास्त्र का कथन है कि–

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
शक्तिद्वयं हि मायायाः विशेपावृतिरूपकम्।।
विक्षेपशक्तिः लिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्।
आवरणेत्यपरा शक्तिः या संसारस्य कारणम्।।
एतस्मात् जायते प्राणः मनो सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।।

एकमेव अद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मात् अव्यक्तमेवाक्षरः।
तस्मात् अक्षरात् महत् महतो वै अहंकारः ।।
तस्मादेव अहंकारात् पंचतन्मात्राणि तेभ्यः भूतादीनिति।।
प्रभवः सर्वभावानां सताभिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणः चेतोंशून् पुरुषः प्रथक्।।
अनादिसम्बन्धवत्या क्षेत्रज्ञोऽयं अविद्यया।
युक्तः पश्यति भेदेन ब्रह्मतत्त्वम् आत्मनि स्थितम्।।

अर्थात् हम तथा हमारा यह संसार परमात्मा की माया का खेल है और स्वयं परमात्मा इसका मायावी है। ब्रह्मसूत्र का भी यही कथन है कि '**लीला कैवल्यं तच्छ्रुतेः**' यानि श्रुति का यह प्रमाण है कि संसार लीलामात्र है। अविद्या माया की दो प्रमुख शक्तियाँ हैं। प्रथम विक्षेपशक्ति है जोकि त्रिगुणात्मक है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की कारणभूता है तथा दूसरी आवरणशक्ति है जोकि असत्य तथा कल्पित संसार को सत्य दिखाती है। उदाहरण के लिए हमारा स्वप्न का संसार माया का प्रतिनिधि हमारा मन ही बनाता है और उसमें गुप्त माया उसको सत्य दिखाती है। वेदवाणी का प्रमाण है कि –

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जागृद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।।

(माण्डूक उप. आ. 29)

अर्थात् जैसे माया के द्वारा हमारा मन स्वप्नसंसार की रचना कर उसे सत्य भासित करता है वैसे ही माया के द्वारा हमारा मन ही संसार का स्फुरण तथा सत्यज्ञान का आभास कराता है, क्योंकि जब अचेतावस्था में मन प्राण में लीन हो जाता है तब संसार भी भासित नहीं होता।

संसार की उत्पत्ति का माया द्वारा निर्धारित एक गुणों का क्रमपरिणाम है। इसीलिए महर्षि पतंजलि का कथन है कि–

"परिणामैकत्वं वस्तुतत्त्वम्"

अर्थात् प्रत्येक पदार्थ गुणों का एक निश्चित क्रमपरिणाम है। यह क्रमपरिणाम हेतु तथा फल के रूप में दृश्यजगत का निर्माण करता है। वेदवाणी का इसी दिशा में संकेत है कि–

यावत्हेतुफलावेशः तावत्हेतुफलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते।।
आरभ्य कर्माणि गुणन्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेत् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति सः तत्वोऽन्यः।।

अर्थात् जब तक चित्त में कर्म तथा कर्मफल का आग्रह है तब तक कारणकार्यरूप

संसार प्राप्त होता रहता है। जब चित्त से कर्म तथा कर्मफल के आग्रह का रागद्वेष समाप्त हो जाता है तब संसार के जन्म–मरण से मुक्ति मिल जाती है। जब तक गुणप्रेरित कर्मों का मायिक बन्धन है तथा मायाजनित अनन्त भाव चित्त में अविद्या का आवरण रचते रहते हैं तब तक जीवभाव की भ्रान्ति बनी रहती है। परमात्मसाक्षात्कार के बाद जब उनका अभाव हो जाता है तब विशुद्ध चित्त में जीवभाव की भ्रान्ति नष्ट हो जाती है और केवल कूटस्थ तथा निर्गुणात्मक परमात्मभाव से चित्त प्रकाशित हो जाता है। अविद्या के आवरण में सभी जीव अनादि काल से क्षेत्रज्ञ बनकर शरीरधारी बन गये हैं और प्राकृतिक शक्तियों के साथ संयुक्त होकर बुद्धिसंवेदना के कारण सुखदु:खादि घटाकाशों में विभक्त है। जैसे ही आध्यात्मिक साधना की सिद्धि पूर्ण हो जाती है और आत्मा तथा प्राकृतिक तत्वों का भेदज्ञान हो जाता है तब स्वत ही परमात्मसाक्षात्कार हो जाता है इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेकों जन्मों की निरन्तर साधना की अपेक्षा है। इसी को आध्यात्मिक प्रगति कहते हैं। इस लक्ष्य को पाने के लिए अपने–अपने स्वभाव के अनुकूल सूत्र में व्यक्त किसी न किसी मार्ग पर अग्रसर होना होगा। इन मार्गों पर माया ने गुण बन्धन तथा कर्मबन्धन के अनन्त अवरोध बिछाये हुए हैं। इन अवरोधों के कारण ही जीवात्मा तथा परमात्मा में भेदसम्बन्ध है। यह मायिक बन्धन चित्त पर चित्तवृत्तियों का मलावरण तैयार करता है और जब तक यह आवरण नष्ट नहीं होता तब तक आत्मज्ञान सम्भव ही नहीं। बुद्धिबोधात्मक आत्मा का स्थूलशरीर तथा सूक्ष्मशरीर में अहंभाव के द्वारा एकात्मता का सम्बन्ध है। इसी कारण–

भ्राति न्ज्ञानेन पश्यन्ति जगत्रूपं अयोगिनः

ये तु ब्रह्मविदः विशुद्धचेतसः ते अखिलं जगत्।

ज्ञानात्मकं पश्यन्ति त्वत्रूपं परमेश्वर।।

अर्थात् योगसिद्धि के बिना माया की भ्रान्ति के कारण ही परमात्मा का सर्वव्यापी स्वरूप ही संसार के रूप में दिखाई दे रहा है। जो विशुद्ध अन्तःकरण वाले ब्रह्मज्ञानी हैं, उन्हें यह जगत नहीं अपितु सर्वत्र व्याप्त परमात्मा ही दिखता है। यह दिखना भी कथनमात्र है, वास्तविकता नहीं, क्योंकि–

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।।

(योगदर्शन)

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तात्मानः सर्वमेव आविशन्ति।।

(मुण्डक 3/2/5)

विभेदजनके अज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।

आत्मनो ब्रह्मणो भेदं असतं कः पश्यति।।

(विष्णुपुराण)

अर्थात् योगसाधना से अस्मितानुगत समाधि की सिद्धि के बाद योगी को चित्तनिर्माणादि अचिन्त्य शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जब इस योगेश्वर्य से वैराग्य हो जाने पर

अविद्याजनित अहंकार के बीज का भी नाश हो जाता है तब द्वैतभाव की भ्रान्ति भी नष्ट हो जाती है तथा अद्वैतभाव में केवल परमात्मा का स्वरूप रहता है। न कोई वृष्टा है और न कोई भोक्ता है और न भोग्य क्योंकि–

" भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मवै तत्।। "

अर्थात् भोक्ता, भोज्य तथा परमात्मा यह तीनों एक अद्वितीय ब्रह्म ही हैं, द्वैतसृष्टि तो प्रकाश के आने पर अंधकार की भाँति नष्ट हो जाती है। जैसे आँख को अपने को देखने के लिए दर्पण की जरूरत होती है वैसे ही –

" अस्मिन् विशुद्धे विभवति एषः आत्मा "

अर्थात् आत्मा विशुद्ध चितरूपी दर्पण में प्रकाशित होती है। इसीलिए आध्यात्मिक प्रगति के लिए चितरूपी दर्पण को विशुद्ध बनाना एकमात्र लक्ष्य है। शास्त्र का कथन है कि–

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरः इतरं पश्यति।
यत्र सर्वमात्मैव भवेत् तत्र कं केन पश्येत्।।

(ब्रह. उप. 2/4/4)

नान्योऽतोस्ति दृष्टा, नान्योऽतोस्ति श्रोता।
नान्योऽतोस्ति मन्ता, नान्योऽतोस्ति विज्ञाता।।

(ब्रह. उप. 3/7/23)

" येन सर्वमिदं विजानाति तं केन विजानीयात् "

अर्थात् जहाँ एक से अधिक मनुष्य होते हैं वही एक दूसरे को देख सकते हैं किन्तु जहाँ आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, वहाँ कौन किसको देखे। आत्मा के अतिरिक्त न तो अन्य कोई दृष्टा है, न श्रोता, न मन्ता है और न कोई विज्ञाता है, तब उसको देखने या जानने वाला कोई है ही नहीं। इस समस्या का हल यही है कि वह स्वयं ही अपने आपको जाने, कैसे जाने इस पर शास्त्र का कहना है कि –

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानं आत्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्ति आत्मनि अवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्ति अचेतसा।।
ऐषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः यस्मिन् प्राणाः पचधाः सम्विवेशः।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभति एषः आत्मा।।
सत्येन लभ्यः एषरऽत्मा सम्यक्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रः ततस्तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।।

अर्थात् आत्मतत्व की अनुभूति विशुद्ध बुद्धि में ध्यानसमाधि के द्वारा, या शक्तिपात से प्रदत्त ज्ञानज्योति के द्वारा सम्भव है अथवा कर्मयोग का पालन करते हुए शुद्ध हुए अन्तःकरण में प्रकाशित प्रतिबिम्ब के द्वारा परमात्मसाक्षात्कार सम्भव है। इसीलिए योगाभ्यास में लगे हुए योगियों के चित्त से जब पंचक्लेशों तथा अज्ञान से जनित कर्मसंस्कारों का नाश होने पर उन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा में आत्मदर्शन होते हैं। किन्तु यत्न करते हुए भी जब तक चित्त से माया का संस्काररूपी मलावरण नष्ट नहीं हो जाता तब तक आत्मतत्व की अपरोक्ष अनुभूति नहीं हो पाती। यह परम सत्य है कि आत्मसाक्षात्कार केवल चित्तरूपी निर्मल दर्पण के माध्यम से ही होता है, किन्तु जब तक प्राणों के द्वारा मनोवृत्तियों के रूप में जीवों का अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए निरन्तर अनेक मनुष्य योनियों में ब्रह्मचर्य के धर्मों का पालन करते हुए वेदान्तविज्ञान के अर्थों को सुनिश्चित करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान की साधना आवश्यक है तभी निर्विकल्प मन में शुद्ध तथा ज्योतिस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है और समाहित बुद्धि आत्मतत्व का अनुभव करती है।

यह तो स्पष्ट है कि आध्यात्मिक प्रगति के लिए चित्त को निर्मल करना परमावश्यक है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कौन से उपाय है। किसी भी कार्य का नाश सदैव उसके कारण में गुप्त रहता है। चित्त पर जो मलावरणरूपी कार्य हुआ उसके मुख्य कारण कर्माशय तथा पंच क्लेशों के वासनासंस्कार हैं। यही चित्तवृत्तियों के रूप में आवरण को जन्म देती हैं। इनके नाश का उपाय है–

" अभ्यासवैराग्यभ्यां तन्निरोधः। "

अर्थात् योगसाधना तथा वैराग्य की भावना से इनका नाश होता है। योगसाधना से तात्पर्य है अष्टांगयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास। वैराग्य से तात्पर्य है कि उपरामता। इस अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा चित्त में परिवर्तन होता जाता है। इसका भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं वर्णन किया है कि –

यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति।।
सुखामात्यान्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।
शनैःशनैः उपरमेत् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखामुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते।।

अर्थात् हमारा यह चित्त अनादि काल में माया के आवरण में है और इसमें असंख्य वासनाओं के संस्कार संचित हैं तथापि नवीन कर्मसंस्कारों को ग्रहण करने की इसकी असीमित क्षमता है। इसलिए जन्म–जन्मान्तर में योगसाधना करते–करते जब यह सांसारिक आकर्षण से विरक्त हो जाता है तभी अपने निर्मल तथा विशुद्ध रूप में इसमें सर्वव्यापी आत्मतत्व प्रकाशित होता है। जैसे पारदर्शी शीशे में सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य की भाँति प्रकाशवान दिखता है वैसे ही विशुद्ध बुद्धि में आनन्दस्वरूप परमात्मा का आत्यन्तिक सुख अनुभूति में आता है जोकि इन्द्रियों का विषय नहीं है। इस सुख की अनुभूति के पश्चात् चित्त उसी में रमण करता रहता है। इस अक्षय सुख की अनुभूति के बाद पुनः संसार के क्षणिकदुःख तुच्छ हो जाते हैं। श्रुति का प्रमाण है कि–

स एव परमानन्दः एतस्यैव आनन्दस्थानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।।

अर्थात् परमात्मा का स्वरूप आनन्द का समुन्दर है, उसके आनन्दस्वरूप में स्थित सभी प्राणी की एक बूंद में जीवित रहते हैं।

अतः विवेकपूर्वक धीरे–धीरे धैर्य के साथ मन को संसार के क्षणिक सुखों से निरासक्त कर व आत्मतत्व में ध्यानस्थ कर अन्य किसी भी विषय को चित्त में चिन्तन न करे। जब चित्त बाह्य तन त्याग कर अपने आत्मस्वरूप में रमण करने लगेगा तब स्वतः ही अक्षय सुख की अनुभूति होगी। धीरे–धीरे रजोगुण तथा तमोगुण दोनों शान्त हो जायेंगे तथा शुद्ध सतोगुण की वृद्धि होती जायेगी। शुद्ध तमोगुण में परमात्मा का स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। इस तरह निरन्तर अभ्यास करते रहने से जब चित्त से रजोगुण तथा तमोगुण के विकारों का मल धुलने लगता है और आध्यात्मिक संस्कार तन में प्रकाशित हो जाते हैं, तब परमात्मा के दिव्य सच्चिदानन्द स्वरूप की स्वतः अनुभूति होने लगती है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

अशुभ ही नहीं शुभ का भी त्याग करना होगा

स्वामी विवेकानन्द

मैं पहले धर्म जिज्ञासा से नाना सम्प्रदायों में, अनेक ऐसे सम्प्र- यों में जिन्होंने दूसरे राष्ट्रों के भावों को अपना लिया है, भ्रमण करता था, दूसरों के द्वार पर भिक्षा मांगता था। तब मैं जानता न था कि मेरे देश का धर्म, मेरी जाति का धर्म इतना सुन्दर और महान है। कई वर्ष हुए मुझे पता लगा कि हिन्दू धर्म संसार का सर्वाधिक पूर्ण सन्तोषजनक धर्म है। अतः मुझे यह देखकर हार्दिक क्लेश होता है कि यद्यपि हमारे देशवासी अप्रतिम धर्मनिष्ठ होने का दावा करते हैं, पर हमारे इस महान देश में यूरोपीय ढंग के विचार फैलने के कारण उनमें धर्म के प्रति व्यापक उदासीनता आ गई है। हाँ, यह बात जरूर है और उससे मैं भली प्रकार अवगत हूँ कि उन्हें जिन भौतिक परिस्थितियों में जीवन–यापन करना पड़ता है, वे अनुकूल नहीं है।

वर्तमान काल में हम लोगों के बीच कुछ सुधारक हैं जो हिन्दू जाति के पुनरुत्थान के लिए हमारे धर्म में सुधार या यों कहिये कि उलट–पलट करना चाहते हैं। निस्सन्देह उन लोगों में कुछ विचारशील व्यक्ति हैं, लेकिन साथ ही ऐसे बहुत से लोग भी हैं जो अपने उद्देश्य को बिना जाने दूसरों का अन्धानुकरण करते हैं और अत्यन्त मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं। इस वर्ग के सुधारक हमारे धर्म में विजातीय विचारों का प्रवेश करने में बड़ा उत्साह दिखाते हैं। यह सुधारक वर्ग मूर्ति पूजा का विरोधी है। इस दल के सुधारक कहते हैं कि हिन्दू धर्म सच्चा धर्म नहीं है, क्योंकि इसमें मूर्ति पूजा का विधान है। मूर्ति पूजा क्या है ? यह अच्छी है या बुरी– इसका अनुसन्धान कोई नहीं करता, केवल दूसरों के इशारे पर वे हिन्दू धर्म को बदनाम करने का ढूँढ निकालने का लचर प्रयत्न कर रहा है। सदा विद्युत् शक्ति, चुम्बकीय शक्ति, वायु कम्पन तथा उसी तरह की अन्य बातें किया करते हैं। कौन कह सकता है कि वे लोग एक दिन ईश्वरकी परिभाषा करने में उसे विद्युत – कम्पन का समूह न कह डाले ! जो कुछ भी हो, माँ इनका भी भला करे। जगदम्बा ही भिन्न–भिन्न प्रकृतियों और प्रवृत्तियों के द्वारा अपना कार्य साधन करती है।

उक्त विचार वालों के विपरीत एक और वर्ग है, यह प्राचीन वर्ग कहता है कि हम लोग तुम्हारी बाल की खाल निकालने वाला तर्कवाद नहीं जानते और न हमें जानने की इच्छा है ; हम लोग तो ईश्वर और आत्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं। हम सुख–दुःखमय इस संसार को छोड़कर इसके अतीत प्रदेश में, जहाँ परम आनन्द है, जाना चाहते हैं। यह वर्ग कहता है कि 'सविश्वास गंगास्नान करने से मुक्ति होती है; शिव, राम, विष्णु आदि किसी एक में ईश्वर–बुद्धि रखकर श्रद्धा–भक्तिपूर्वक उपासना करने से मुक्ति होती है।' मुझे गर्व है कि मैं इन दृढ़ आस्थावालों के प्राचीन वर्ग का हूँ।

इसके अतिरिक्त एक और वर्ग है जो ईश्वर और संसार दोनों की एक साथ ही

उपासना करने के लिए कहता है। वह सच्चा नहीं है। वे जो कहते हैं वह उनके हृदय का भाव नहीं रहता। प्रकृत महात्माओं का उपदेश है :

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।

तुलसी कबहुँ होत नहिं, रवि-रजनी इक ठाम।।

महापुरुषों की वाणी हम से इस बात की घोषणा करती है कि 'यदि ईश्वर को पाना चाहते हो, तो काम–कांचन का त्याग करना होगा। यह संसार असार, मायामय और मिथ्या है। लाख यत्न करो, पर इसे बिना छोड़े कदापि ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते। यदि यह न कर सको तो मान लो कि तुम दुर्बल हो, किन्तु स्मरण रहे कि अपने आदर्श को कदापि नीचा न करो ! 'सड़ते हुए मुर्दे को सोने के पत्ते से ढँकने का यत्न न करो ! अस्तु ! उसके मतानुसार यदि धर्म की उपलब्धि करनी है तो तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम लुकाछिपी का खेल खेलना छोड़ दो। मैंने क्या सीखा? मैंने इस प्राचीन सम्प्रदाय से क्या सीखा? यही सीखा :

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।।

(विवेक चूड़ामणि 3)

अर्थात् मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषों का संसर्ग इन तीनों का मिलना बहुत दुर्लभ है। ये तीनों बिना ईश्वर की कृपा के नहीं मिल सकते। मुक्ति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है – मनुष्यत्व या मनुष्य के रूप में जन्म; क्योंकि मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य शरीर ही उपयुक्त हैं इसके बाद चाहिये मुमुक्षुत्व। सम्प्रदाय और व्यक्तिभेद से हमारी साधन प्रणालियाँ भिन्न–भिन्न हैं। विभिन्न व्यक्ति यह भी दावा कर सकते हैं कि ज्ञानोपार्जन के उनके विशेष अधिकार एवं साधन हैं और जीवन में श्रेणी भेद के कारण उनमें भी विभेद हैं, किन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि मुमुक्षुत्व के बिना ईश्वरोपलब्धि असम्भव है। मुमुक्षुत्व क्या है ? इस संसार के सुख–दुःख से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा, इस संसार से प्रबल निर्वेद। जिस समय भगवान के दर्शन के लिए यह तीव्र व्याकुलता होगी उसी समय समझना कि तुम ईश्वर प्राप्ति के अधिकारी हुए हो।

इसके बाद चाहिये ब्रह्मदर्शी महापुरुष का संग अर्थात् गुरु–लाभ। गुरु–परम्परा से बिना क्रमभंग के जो शक्ति प्राप्त होती है, उसी के साथ अपना संयोग स्थापित करना होगा, क्योंकि वैराग्य और तीव्र मुमुक्षुत्व रहने पर भी उसके बिना कुछ न हो सकेगा। शिष्य को चाहिये कि वह अपने गुरु को परामर्शदाता, दार्शनिक, सुहृद् और पथप्रदर्शक के रूप में अंगीकार करे। गुरु करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। **श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।** (विवेकचूड़ामणि 33) – ' जिसे वेदों का रहस्य–ज्ञान है, जो निष्पाप है, जिसे कोई इच्छा न हो, जो ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ हो अर्थात् श्रोत्रिय हो, जो केवल शास्त्रों का पंडित ही न हो वरन् उनके सूक्ष्म रहस्यों का भी ज्ञाता हो और जिसे शास्त्रों के वास्तविक तात्पर्य का बोध हो ' – वही गुरु होने योग्य है।' विविध शास्त्रों को पढ़ने मात्र से तो वे बस तोते बन गये हैं। उस व्यक्ति को वास्तविक पंडित समझना चाहिये जिसने शास्त्रों का केवल एक अक्षर पढ़कर (दिव्य) प्रेम का

लाभ कर लिया :–

पोथी पढ़ तूती भयो, पंडित भया न कोय।

अक्षर एक जो प्रेम से, पढ़े तो पंडित होय।।

अत: केवल पोथी ज्ञान से पंडित हुए लोगों से काम न चलेगा। आजकल प्रत्येक व्यक्ति गुरु बनना चाहता है। कंगाल भिक्षुक लाख रुपये का दान करना चाहता है। तो गुरु अवश्य ही ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिसे पाप छू तक न गया हो। जो अकामहत हो, अर्थात् जो कामनाओं से सन्तप्त न हो, विशुद्ध परोपकार के सिवा जिसका दूसरा कोई इरादा न हो, जो अहैतुक दयासिन्धु हो और जो नाम यश के लिए अथवा किसी स्वार्थ–सिद्धि के लिए धर्मोपदेश न करता हो। जो ब्रह्म को भली भाँति जान चुका है, अर्थात् जिसने ब्रह्म–साक्षात्कार कर लिया है, जिसके लिए ईश्वर" करतलामलकवत् "है– श्रुति का कहना है कि वही गुरु होने योग्य है। जब यह आध्यात्मिक संयोग स्थापित हो जाता है तब ईश्वर का साक्षात्कार होता है– तब ईश्वर – दृष्टि सुलभ होती है।

गुरु से दीक्षा लेने के पश्चात् सत्यान्वेषी साधक के लिए आवश्यकता पड़ती है अभ्यास की। गुरुपदिष्ट साधनों के सहारे इष्ट के निरन्तर ध्यान द्वारा सत्य को कार्यरूप में परिणित करने के सच्चे और बारंबार प्रयास को अभ्यास कहते हैं। मनुष्य ईश्वर–प्राप्ति के लिए चाहे कितना ही व्याकुल क्यों न हो, चाहे कितना ही अच्छा गुरु क्यों न मिले, साधना–अभ्यास बिना किये उसे कभी ईश्वरोपलब्धि न होगी। जिस समय अभ्यास दृढ़ हो जायेगा, उसी समय ईश्वर प्रत्यक्ष होगा।

इसीलिए कहता हूँ कि हे हिन्दुओं, हे आर्य सन्तानों, तुम लोग हमारे धर्म के हिन्दुओं के इस महान आदर्श को कभी न भूलो। हिन्दुओं का प्रधान लक्ष्य इस भवसागर के पार जाना है– केवल इसी संसार को छोड़ना होगा ऐसा नहीं है, अपितु स्वर्ग को भी छोड़ना पड़ेगा– अशुभ के ही छोड़ने से काम न चलेगा, शुभ का भी त्याग आवश्यक है ; और इसी प्रकार सृष्टि–संसार, बुरा–भला इन सबके अतीत होना होगा और अन्ततोगत्वा सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार करना होगा।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योग साधना से ही सुसभ्य एवं स्वस्थ समाज का निर्माण

आचार्य (डा.) दासलाल शर्मा

एक–एक व्यक्ति का मिलित रूप समाज बनता है। हर व्यक्ति सुखी रहे परस्पर प्रेम व सद्भाव से जीवन बिताये इसके लिये स्वस्थ समाज की आवश्यकता पड़ती है। अराजकता में किसी प्रकार की उन्नति नहीं हो सकती। समुन्नत समाज का निर्माण तभी हो सकता है जब समाज में सुसभ्य और श्रेष्ठ व्यक्ति रहते हों। हमारे समाज में यदि अनैतिक अवांछनीय व अपराधी तत्व भरे पड़े हों तो समाज की उन्नति नहीं हो सकती।

हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों व आचार्यों ने अपनी प्रज्ञा विवेक से स्मृति व धर्मशास्त्रों का निर्माण करके समाज को सभ्य और सुसंस्कृत बनाया है। मानव के इहलौकिक और परलौकिक दोनों पक्षों को सुखी बनाने के लिए सभी क्रियाओं में धार्मिकता को जोड़कर अभ्युदय और निःश्रेयस रूप परमफल की प्राप्ति का मार्ग खोल दिया है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्ट्य का विधान बनाया है। इसलिये समाज के हर व्यक्ति को आत्मोत्थान के साथ–साथ समाजोत्थान के विषय में भी सोचना चाहिये। किसी भी देश की सभ्यता व संस्कृति देश की प्राण होती है। वह जितनी सुदृढ़ धर्ममय व आध्यात्मिक होगी वहाँ के लोग उतने ही सुखी व समुन्नत होंगे। जो व्यक्ति धर्माचरण करता है उसके लिये ' धर्मो रक्षति रक्षितः ' की उक्ति चरितार्थ रहती है। धर्मपालन ठीक प्रकार से होने पर ही व्यक्ति योगधर्म में प्रवेश पाने का अधिकारी बनता है। पूज्यपाद गुरुदेव भगवान् ने अपने हर गृहस्थ व विरक्त बच्चों को धर्ममय आचरण का उपदेश दिया है। गृहस्थ बच्चों को समझाते हुये वे कहा करते थे कि पति–पत्नि को परस्पर प्रेम से रहना चाहिये। कभी विवाद व झगड़ा नहीं करना चाहिये। उन्हें एक प्राण दो–देही बनकर रहना चाहिये। जहाँ परिवार में पति–पत्नि में प्रेम रहता है वहाँ धन–धान्य व पैसा खूब रहता है। जहाँ नित्य ही क्लेश रहता है वहाँ गरीबी और बीमारियाँ रहती हैं। जिस घर में प्रेम–शान्ति रहती है वह कुल चमक उठता है। इस प्रकार एक–एक परिवार का सुधार हो जाये तो सारा समाज सुधर जायेगा और सभी योगमार्ग पर चलने लग जायेंगे। श्री गुरुदेव ने अपने बच्चों को सदा ही दुःखों से छुड़ाने का प्रयास किया है। महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने अपने संस्कारी बच्चों का कष्ट दूर करने के लिए अवनि मण्डल पर आना स्वीकार किया है। यद्यपि मर्त्यलोक योगियों के रहने की जगह नहीं है। अमृत रूपी महासागर में निमग्न रहने वाले महायोगियों के लिए मृत्युलोक हेय ही है। फिर भी संसार के जीवों की कल्याण कामना से समय–समय पर सद्गुरु रूप बदल कर आया करते हैं। पूज्यपाद गुरुदेव के चरण–शरण में आकर हजारों व्यक्तियों का जीवन बदल गया। दुराचरण और व्यसन के कुमार्ग को त्यागकर उन्हें गुरुदेव ने सन्मार्ग का पथिक बनाया है। अपने शरण में आने वाले भक्त का शिवरूप गुरुदेव सदा ही कल्याण करते हैं। जीव अपने मिथ्याभिमान, अहंकार एवं अज्ञान के कारण

सद्गुरु के चरणों से दूर रहा करता है। गुरुदेव का पृथ्वी पर आविर्भाव रहने पर भी संस्कारी पुण्यवान ही श्रीचरणों से जुड़ पाते हैं। एक महापुरुष जब पृथ्वी पर अवतरित होता है तो एक नये युग का सृजन हो जाता है। श्री गुरुदेव से शिक्षा–दीक्षा लेने वाले साधकों का भी एक संसार है और उसमें आने वाले व्यक्तियों का भाग्य बदल जाया करता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है– गुरुदेव तुम्हारे चरणों में भाग्यों को बदलते देखा है। वस्तुतः महापुरुष बड़े–बड़े भवनों का निर्माण नहीं करते, वे तो नये युग का निर्माण करते हैं। मानव को सही दिशा, उपदेश व शक्ति संचार कर उसे ' अमृतपद ' की ओर लिये प्रकट होकर संसार में रहा करते हैं। योग वास्तव में विज्ञान के साथ–साथ कला भी है। यह जहाँ मनुष्य को अध्यात्म योग का ज्ञान देता है। वहाँ साथ– साथ कला द्वारा मनुष्य के व्यवहारिक व सांसारिक जीवन को भी संवारता है। इस कारण से भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी ' योगः कर्मसु कौशलम् ' कहकर इसके उभय पक्ष को सामने रखकर मानव के सर्वांगीण विकास को उज्जवल बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। परम गुरुदेव आनन्दकन्द महाप्रभु रामलाल जी महाराज तथा सद्गुरु योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने मानव के कल्याण के लिये शरीर धारण कर विश्व को सब प्रकार से उपकृत किया है। उनके आदेशों व उपदेशों पर चलकर ही हम सब अपने लक्ष्य को पा सकेंगे। यद्यपि हम सभी का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है और देर–सवेर प्राप्ति होती ही है, किन्तु मोक्ष तक की यात्रा सहज नहीं। इसकी प्राप्ति तक सभी को योगमय जीवन जी कर अनुकूल परिस्थितियाँ निर्माण करने की दिशा में प्रयत्न करना चाहिये। यदि गुरुदेव की कृपा हो जाये तो शिष्य को लक्ष्य प्राप्त करने के लिए क्षणभर का समय पर्याप्त होगा। अतएव साधक को पूर्ण निष्ठा और विश्वास के साथ सद्गुरुदेव के दिग्दर्शन को आत्मसात् करना चाहिए। तभी और केवल तभी उसका और उसके चारों ओर अवस्थित समाज का कल्याण सम्भव है

अजरामरवत प्राज्ञः विद्याम् अर्थं च चिन्तयेत्।
ग्रहीत इव केशषु मृत्युना धर्म आचरेत्।।

विद्या और वैभव की खोज में अपने को जरा–मरण से मुक्त समझकर आचरण करो और धर्माचरण में अपनी शिखा काल के हाथों में समझकर तत्पर रहो।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

सहज योग

स्वामी श्री विवेकानन्द जी महाराज

योग का विषय बहुत ही मधुर विषय है। ' योग ' शब्द सुनते ही मनुष्य का मन उड़कर परम पिता परमात्मा के पास पहुँचने की चेष्टा करने लगता है। योग के द्वारा जो ईश्वरीय आनन्द प्राप्त होता है और मनुष्य के मन में एक अलौकिक मस्ती रहती है, उस का अनुभव करने की इच्छा तो बहुत मनुष्यों को होती है परन्तु योग की सहज और वास्तविक विधि का पता न होने के कारण वे ईश्वरीय सुख और प्यार के अनुभव से तथा मन की सच्ची शान्ति से वञ्चित रह जाते हैं और जीवन के अनमोल क्षणों को व्यर्थ ही गँवा देते हैं।

वास्तव में परम प्रिय परमपिता परमात्मा से मिलने अर्थात् उनसे योग–युक्त होने का सभी को अधिकार है और योग–युक्त होना कठिन भी नहीं है। योग में स्थित होने और जीवन में सच्चे सुख शान्ति का अनुभव करने के लिए मुख्य रूप से छः बातें आवश्यक हैं।

(1). **निश्चय** – इन छः बातों में सब से पहला स्थान 'निश्चय' को प्राप्त है क्योंकि मनुष्य का 'निश्चय' ही उसके मन, वचन और कर्म का नेता है। मनुष्य जब बुद्धि से किसी चीज को अच्छा या बुरा निश्चय कर लेता है तब उसका मन उस चीज को प्राप्त करने या छोड़ने का चिन्तन करता रहता है और उसे प्राप्त करने या छोड़ने के विचार से ही वह कर्म अथवा पुरुषार्थ भी करता है। अतः योगाभ्यास, जो कि मन को ईश्वर की ओर लगाने ही का दूसरा नाम है, तभी हो सकता है जब मनुष्य योगी जीवन को ही अपना लक्ष्य निश्चय करे, परमात्मा की लगन में मग्न होने के पुरुषार्थ को ही अपना पुरुषार्थ निश्चय करे और स्वयं को अव्यक्त आत्मा निश्चय करे। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है, वही योगी हो सकता है अथवा उस ही का योगाभ्यास सुविधा से, निर्विघ्न रूप से तथा निरन्तर ठीक चलता है।

विषय विकारों वाले जीवन में सच्चा सुख नहीं है–

सब से पहले तो मनुष्य को यह निश्चय होना चाहिए कि भोगी जीवन अथवा विकारी जीवन (काम, क्रोध, लोभ आदि वाला जीवन तो कोई भी नहीं है, बल्कि विकारी जीवन तो नरकमय जीवन है, उसका तो हरेक मिनट मृत्यु, के तुल्य है क्योंकि उसका परिणाम बड़ा खराब और बुरा रहता है, जब तक मनुष्य विकारों वाले जीवन को ही जीवन माने हुए है तब तक तो वह ईश्वरीय आनन्द का रस ले ही नहीं सकता। अतः घर गृहस्थ में रहते हुए भी मनुष्य जब इन विकारों को विष समझने लगता है और यह निश्चय करने लगता है कि विकार तो आदि मध्य अन्त में दुःख देने वाले हैं और योग अमृत है, प्रभु की स्मृति ही सुखदायक है, तब ही योगाभ्यास के लिए उसकी भूमिका अनुकूल बनती है। जब मनुष्य यह निश्चय करता है " भोगी का जीवन तो रोग और शोक का जीवन अथवा क्षण–भंगुर और फीके सुख का जीवन है। इसीलिए अब इन विकारों से छूटने का पुरुषार्थ करूँगा और विषय–वैतरणी में डूबते हुए अपने जीवन के बेड़े

को निकालने का पुरुषार्थ करूँगा " तब ही वह योग की ओर आगे बढ़ सकता है।

(2). मैं आत्मा हूँ, परमपिता परमात्मा की सन्तान हूँ–अज्ञानी मनुष्य स्वयं को 'देह' निश्चय कर के दैहिक सम्बन्धों के भान में ही रहता है और दैहिक माता–पिता से ही केवल एकआध जन्म के लिए ही अल्प सम्पत्ति अथवा सुख का जन्म सिद्ध अधिकार प्राप्त करता है। परन्तु योग का तो आधार ही ' आत्म–निश्चय ' है। योगी स्वयं को एक आत्मा निश्चय करने से और ' परमपिता परमात्मा की सन्तान ' निश्चय करने से ही अविनाशी ' सुख–शान्ति अथवा देवी राज्य–भाग्य ' का ईश्वरीय जन्म–सिद्ध अधिकार प्राप्त कर लेता है। नास्तिक मनुष्य का परमात्मा के अस्तित्व में निश्चय न होने के कारण, वह ईश्वरीय आनन्द से वञ्चित रहता है और स्वयं को ही शिव अथवा परमात्मा निश्चय करने वाला मिथ्या–ज्ञानी मनुष्य परमपिता परमात्मा से जन्म–सिद्ध अधिकार लेने का पुरुषार्थ ही नहीं करता। अत: योगाभ्यास जिसका अर्थ ही है परमात्मा से सम्बन्ध (**Connection**) जोड़ना तब हो सकता है जब आत्मा और परमात्मा को अलग–अलग मानकर आनन्द के सागर, शान्ति के सागर, सर्वशक्तिमान् तथा कल्याणकारी परमात्मा को माता–पिता, बन्धुश्च सखा अथवा शिक्षक और गुरु निश्चय किया जाए। योगाभ्यास के लिए यह निश्चय जरूरी है।

– क्रमश:

न ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न बिना गुरुसंबंध ज्ञानस्याधिमम: स्मृत:।।
गुरु प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्।।

(महा० शांतिपर्व 326/22-23)

जैसे ज्ञान विज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरु से संबंध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु इस संसार सागर से पार उतारने वाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौका के समान बताया गया है। मनुष्य उस ज्ञान को पाकर भवसागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनों की ही अपेक्षा नहीं रहती।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

मृत्यु विज्ञान

श्री गोपीनाथ जी कविराज

मृत्यु और देहत्याग ठीक एक ही वस्तु नहीं है। मर्त्यलोक में सब की मृत्यु होती है, परन्तु देहत्याग सब का नहीं होता। जो देह ग्रहण नहीं कर सकता, वह देह–त्याग किस प्रकार कर सकता है। अज्ञानियों का जन्म जैसे उनकी इच्छा के अधीन नहीं होता, उसी प्रकार उनकी मृत्यु भी उनकी अपनी इच्छा के ऊपर नहीं निर्भर करती है। सूक्ष्म–देहसमन्वित आत्मा का स्थूल देह ग्रहण करना प्रारब्ध कर्म के विपाक के फलस्वरूप होता है। जाति या जन्म, आयु और भोग– ये तीनों प्रारब्ध कर्म के विपाक के रूप में जाने जाते हैं। साधारण नियम यह है कि जीव के कर्मों की अधिष्ठात्री दिव्य शक्ति साधारणतः जीव को मृत्यु के उपरान्त संचालित करती है। मृत्यु पहले भी जैसे सब जीव स्वाधीन नहीं हैं, मृत्यु के बाद भी ठीक वैसे ही स्वाधीन नहीं हैं, जीव अपने कर्मों की अधिष्ठात्री देवशक्ति के अधीन है। साधारण जीव की मृत्यु अपनी इच्छा के अधीन नहीं होती, ठीक इसी प्रकार उसका जन्म भी उस की इच्छा के अधीन नहीं होता दोनों ही कर्मसापेक्ष हैं और इसी कारण कर्म की अधिष्ठात्री शक्ति के अधीन हैं। जब तक अज्ञानमूलक देहात्मबोध रहेगा, तब तक यह नियन्त्रण अवश्यम्भावी है। इस अवस्था में मृत्यु में अज्ञान का आवरण रह जाता है। मुमूर्षु नहीं समझ पाता कि उनकी मृत्यु हो रही है, तथापि प्रकृति के नियम के अनुसार मृत्यु हो जाती है। वह निद्रा या निद्रा के अनुरूप मूर्च्छा की अवस्था है। किसी–किसी को मृत्यु काल में कम अधिक यन्त्रणा होती है और किसी–किसी को बिल्कुल ही नहीं होती। सरल सहज रूप में देहत्याग हो जाता है। अवस्था विशेष में मृत्युकाल में ज्ञान रहता है। इस अज्ञान और ज्ञान की सत्ता और शक्ति के ऊपर मुमूर्षु की मरणोत्तर शुभा–शुभ गति के प्रकार भेद निर्भर करते हैं। शुक्ल या देवयान गति तथा कृष्ण या पितृयाण गति की बात शास्त्र में प्रसिद्ध है। ज्ञान का कुछ उन्मेष रहे बिना केवल कर्म और विकर्म के प्रभाव से देवयान या शुक्लगति प्राप्त नहीं होती। यह जो ज्ञानी की मृत्यु है, वह शुक्लगतिप्रद होने पर भी इच्छा मृत्यु नहीं है। अज्ञानी की मृत्यु नहीं है। सम्बन्ध में तो इच्छा की कोई बात ही नहीं है। इस प्रसङ्ग में यह याद रखना चाहिए कि पूर्ण ज्ञानकी देहावसान काल में कोई गति नहीं होती। यथास्थान स्थित अवस्था में ज्ञान भी प्राण महासत्ता में लीन हो जाता है। प्रकट अथवा गुप्त योग शक्ति के बिना मुमुर्षु के पक्ष में इच्छा मृत्यु सम्भव नहीं है। योग शक्ति ही ईश्वरीय शक्ति है। प्रारब्ध के ऊपर भी तीव्र ईश्वरीय शक्ति का प्रभाव रहता है इसके होने पर इच्छा मृत्यु हो सकती है। यह ईश्वरीय शक्ति साधना या तपस्या के द्वारा अर्जित हो सकती है, अथवा पूर्व कर्म सापेक्ष या निरपेक्ष भगवत्कृपा से भी हो सकती है। कभी–कभी महापुरुष के वर या आशीर्वाद से भी इसकी प्राप्ति होती है। इच्छा शक्ति के साथ ज्ञान का योग रह भी सकता है, नहीं भी रह सकता है। इस सम्बन्ध में बहुत विचित्रताएँ सम्भव हैं।

'काल मृत्यु और अकाल मृत्यु ' में भेद है। एक दृष्टि से देखने पर सभी मृत्यु 'काल मृत्यु' हैं। काल पूर्ण हुए बिना मृत्यु हो ही नहीं सकती है। यह अति उच्च और सूक्ष्म दृष्टि की बात है। स्थूल दृष्टि से काल मृत्यु और अकाल मृत्यु का भेद सर्वत्र स्वीकार किया गया है। इसका कारण भी है। बौद्धदार्शनिक कहते हैं कि चार कारणों से मृत्यु होती है। पहला कारण है आयुक्षय, दूसरा है कर्मक्षय, तीसरा है आयु और कर्म दोनों का क्षय और चौथा कारण है उपच्छेदक कर्म। आयुक्षय होने से मृत्यु होने पर कहा जा सकता है कि जीव की अपने स्तर की दीर्घतम आयु के परिणाम की आयु अतिक्रांत हो चुकी है, इसी से मृत्यु हुई है। निश्चय ही यह दीर्घतम् आयु हो पूर्ण आयु के रूप में मानी जानी है। परन्तु यदि जनक कम से संजात शक्ति के ह्रासवश देहपात होता है तो कहा जाता है कि यह कर्मक्षय के कारण मृत्यु हुई है। परन्तु कभी–कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्योचित दीर्घतम आयु और जनक कर्म संजात शक्ति का परिणाम एक ही होता है। इस कारण ऐसी अवस्था में कहा जायेगा कि एक साथ दोनों कारणों के संयोग से मृत्यु हुई और यदि आयु ओर कर्म शक्ति के रहते हुए भी विरुद्ध शक्ति के प्रभाव से देहपात होता है तो उसे उपच्छेदक कर्म का फल कहा जाता है। इसी को साधारणत: ' अकाल मृत्यु ' कहते हैं। प्राचीन आचार्यगण इसको ' उपच्छेद मृत्यु ' कहते थे।

उपच्छेद मृत्यु अनेक प्रकार की है। बातपित्त आदि दोष तथा उनके सन्निपात को छोड़ देने पर भी बाह्य कारण वश उपच्छेद मृत्यु होती है। बाह्य प्रकृति का क्षोभ एक प्रधान कारण है। भूकम्प, वज्रपात, वर्षा, आंधी, बाढ़ तथा सवारी या अन्य गाड़ियों से हुई दुर्घटना के कारण उपच्छेद मृत्यु होती है, द्रव्यादि के अनुचित व्यवहार तथा आकस्मिक आक्रमण भी उपच्छेद मृत्यु के कारण बनते हैं। उत्पीड़क तथा उपघातक कर्म के द्वारा व्याधि (Epidemic) आदि भी इसके कारण हैं। केवल कर्म ही जीव के दु:ख और मृत्यु का कारण बने, ऐसी बात नहीं है। विश्व रचना प्रणाली में ही दु:ख के कारण निहित हैं।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

मनुस्मृति-सूक्ति संचय

विधि यज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।

उपांशु स्यातच्छगुणः साहस्त्रो मानस स्मृतिः।

हवन आदि यज्ञों से जप करना दश गुना अच्छा है। उपांशु यानी बिना शब्द निकाले मन ही मन जप करना सौ गुना अच्छा है, और मन के उपांशु जप को अन्तर मन की गहराई में पहुँचाकर हृदय से जप करना हजार गुना श्रेष्ठ है।

जप्येनैव तु संसिद्धि येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।

ब्राह्मण की सिद्धि जप से हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं है।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतोन्द्रियम्।

तेनास्यि क्षरति प्रज्ञा द्दतेः पात्रादिवोदकम्।।

सम्पूर्ण इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय का विषय में झुकाव हो तो तत्व ज्ञानी की बुद्धि उससे नष्ट होती है। जैसे फूटे पात्र से उसका पानी बह जाता है।

वशे कृत्वे इन्द्रियं ग्रामं संयम्य च मनस्तथा।

सर्वान् संसाधयेदर्थान क्षिणवन्योग तस्ततुम्।।

ब्रह्मचारी सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मे भूय एवाभिवर्धते।।

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में ईंधन तथा घी डालने से अग्नि बढ़ता जाता है, शान्त नहीं होता वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त होता किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिए विषयासक्त कभी नहीं होना चाहिए।

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुम सेवया।

विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः।।

यदि इन्द्रियाँ विषयों फंसी हुई हैं तो बिना भोग के भी उनको संयम में नहीं ला सकते ठीक–ठीक ज्ञान से ही इनको संयम में लाया जा सकता है।

यः स्वध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।

तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु।।

जो पुरुष एक वर्ष पर्यन्त विधि युक्त नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय करता है उसके लिए वह स्वाध्याय दूध दही घृत और मधु को वर्षाता है।

न तेन वृद्धो भवति येनास्ति पलितः शिरः।

यो वै युवाऽप्यधीयानस्तु देवाः स्थविरं विदुः।।

जिसके बाल पक जाए वह वृद्ध नहीं होता अपितु जो युवा पठित और शिक्षित है विद्वानों में उसको वृद्ध जानो।

यथा काष्ठ मयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।

यश्च विप्रोऽन धीयामस्त्रयस्ते नाम विभ्रति।

जैसे काठ का बनाया हुआ हाथी या चमड़े का बनाया हुआ मृग होता है वैसा ही बिना पढ़ा हुआ ब्राह्मण केवल नाम मात्र का विप्र होता है।

आचार्यो ब्रह्मणेमूर्तिः पितामूर्ति प्रजायतेः।

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्रातास्वो मूर्तिरात्मनः।।

आचार्य वेद की मूर्ति है और पिता प्रजापति ब्रह्मा की, माता पृथ्वी की और भ्राता स्वात्मा की मूर्ति है।

इसलिए इनमें से किसी का भी अनादर अथवा अपमान न करें।

स्त्रियो रत्नान्ययो विद्या धर्मं सुभाषितम्।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः।।

सुयोग्य स्त्री, नाना प्रकार के रत्न विद्या सत्य पवित्रता श्रेष्ठ वचन शिल्प आदि सब देशों से तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

यौगिक प्रश्नोत्तरी

पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा

यम-नियमों की साधना तथा उनसे लाभ

प्रश्न – पूज्यपाद गुरुदेव ! मैंने आपके व्याख्यानों में यह सुना कि अष्टांग योग का क्रमशः पालन किया जाए तो वह बहुत ही उत्कृष्ट रहता है। और योग के आठ अंगों में से आप बार–बार यह भी समझाया करते हैं कि साधक को यम और नियमों का पालन करना बहुत ही आवश्यक होता है, और यह भी कहा करते हैं कि–

यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान भजन्।

अर्थात् जो मनुष्य नियमों का तो यथा तथा पालन करता है पर यमों के पालन की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देता तो उसका पतन हो सकता है और जो व्यक्ति यमों के पालन पूर्वक नियमों का भी पालन करता है उसका कभी भी पतन नहीं होता। गुरुदेव ! ऐसा क्यों होता है, आप इस विषय को मुझे पुनः समझाने की कृपा करें।

उत्तर– सौम्य ! तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है। हम भी कई दिनों से यह सोच रहे थे, कि तुम्हें अष्टांग योग की विधिपूर्वक शिक्षा दे दें, ताकि तुम पतन से परे हो कर योग के उच्चत्तम उद्देश्य को प्राप्त कर सको। अष्टांग योग की साधना में यम और नियमों की साधना ही मनुष्य के उत्थान की आधार भित्ति है। यदि कदाचित् यम नियमों की साधना के बिना भी किसी प्रकार से समाधि उपलब्ध हो भी जाती है तो उस व्यक्ति को पतन का भय रहता ही है। इसलिये योग समाधि प्राप्त करने के पहले साधक को चाहिये कि यम नियमों के साधनों को वह पहले से ही अपने जीवन में गहराई से घटित कर ले।

प्रश्न– गुरुदेव ! आप कई बार अपने व्याख्यानों में यह भी बतलाया करते हैं कि सिद्धानुग्रह प्राप्त व्यक्ति को बिना ही किसी अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न– हे गुरुदेव आप कृपा करके मुझे यमों की साधना सविस्तार समझाइये जिससे कि मैं उनका अभ्यास कर सकूँ।

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

–योग दर्शन

उत्तर– इस सूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह यह पाँच साधनायें यम कहलाती हैं, इनमें यम–नियमों की सब साधनाओं की आधारभूत अहिंसा है। इसी सूत्र का अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

अहिंसा :–

तत्राहिंसा- सर्वथा सर्वदा सर्वभूताना मनभिद्रोह उत्तरे च

यमनियमास्तनमूला-स्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रति-पादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूप - करणायैवोपादीयन्ते तथा चोक्तम्-स खल्वयं ब्राह्मणो यथा तथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा-तथा प्रमाद कृतेभ्यो हिंसा निदानेभ्यो निवर्त्तमान स्तामेवा वदात - रूपाम् अहिंसा करोति

अर्थात् अहिंसा के अतिरिक्त शेष यम-नियम अहिंसा की पुष्टि के लिए ही हैं। इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिये, उदाहरणार्थ हम सत्य बोलते हैं। सत्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं:-

सत्यं- यथाऽर्थेवाङगमनसे, यथा दृष्टं यथाऽनुमिते यथा श्रुतं तथा बाङमश्चेति परत्र स्वबोधसङ् क्रान्तये वागुक्तसा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता। प्रति पत्ति बन्ध्या वा मवेदिति एषा सर्व भूतोशतर्थं प्रवृत्ता न भूतोपाघात परैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत तेन पुण्याभासेन पुण्य प्रति रूपकेण कष्टंतम प्राप्नुयात।।

अर्थात् यथार्थ वाणी जैसे देखी सुनी व अनुमान की हुई, दूसरे को अपना अर्थ समझाने के लिए न वंचनों से युक्त, न भ्रांतियुक्त व न अस्पष्टार्थ कही हुई, जो प्राणी मात्र के परोपकार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा , सत्य प्रयुक्त होती है, वही वाणी सत्य कहलाती है। इसी के द्वारा प्राणी-मात्र का भला होता है। इसलिए सत्य-वादन अहिंसा की निर्मलता के लिए अन्य सब प्रकार के व्रताचरण अहिंसा धर्म को ही परिपुष्ट करते हैं। यह अहिंसा किसी जाति किसी देश और किसी काल व समय से युक्त न हो और सार्वभौमिक अहिंसा हो तो महाव्रत कहलाती है। यथा भगवान पतंजलिदेव के शब्दों में :-

जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

— योग सूत्र 2/3/1

जाति देश आदि का अभिप्राय जैसे मछली मारने वाले केवल मछली ही मारते हैं। उनकी हिंसा मछली जाति में है। दूसरी सब जगह वह अहिंसक है। देश में जिस प्रकार से आज कल तीर्थ आदिकों में बलिदान देने की पृथा है। तीर्थ स्थानों में जो बलि आदि देते हैं वह स्थान विशेष की हिंसा है। इस लिए देश विशेष की हिंसा और इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी खास पुण्य काल में हिंसा करते हैं। जैसे पुण्य विषय किसी खास समय पर आने वाली अष्टयी, चतुर्थदशी आदि में बलि का विधान होता है। वह काल विषय हिंसा, कालगता हिंसा, कहलाती है। इसी प्रकार जो किसी खास विशेष समय के लिए बड़े-बड़े किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये हिंसा की जाती है वह समय की हिंसा कहलाती है। इन्हीं सब प्रकार की हिंसाओं से निकल करके प्राणी

मात्र में सब देश में तब काल में और बड़े महान किसी कार्य के लिए भी जो हिंसक नहीं वो अहिंसा रूप महाव्रत को धारण करने वाला बन जाता है।

हिंसा की हुई , कराई हुई, लोभ से, क्रोध से और मोह से, मृदु मध्य व अधिमात्रादि भेदों से सैकड़ों भेदों की है। पूर्ण अहिंसा व्रती वही कहला सकता है जो लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर के किसी भी प्रकार से हिंसा न करे कराये न अनुमोदन करे। भगवान पतंजलि जी लिखते हैं–

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

– योग सूत्र 2/33

अर्थात् जब–जब साधक के सामने हिंसा व्रत आये तब–तब उसको प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। मनुष्य लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर सोचता है कि मैं अपने शत्रु को मार दूँगा और झूठ बोलना पड़े तो झूठ भी अवश्य बोलूँगा, इसके धन को चुरा लूँगा। इसकी स्त्री से बलात्कार करूँगा, और उसके स्थान आदि को जबरदस्ती से छीन कर उसका मालिक हो जाऊँगा, इत्यादि भाव जिस समय साधक के मन में प्रबलता धारण करें तो साधक को इसके अतिरिक्त विपरीत भावनाओं को अपने हृदय में स्थान देना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि संसाराग्नि के घोर अंगारों में पिसते हुये मैंने प्राणी मात्र को अभय प्रदान करने वाला योग अपनाया है। अब मैं पुन: इस अग्नि में नहीं पड़ूँगा। इस प्रकार की धारणाओं को दृढ़ करता हुआ मनुष्य कृतकार्यता, मनमोदिता आदि तीनों प्रकार की हिंसाओं से बचकर के पूर्ण अहिंसा व्रत को प्राप्त करता है। वह प्राणी के प्रति वैर छोड़ देता है और इसके प्रति भी प्राणीमात्र अपना बैर छोड़ देते हैं। भगवान पतंजलि देव जो अहिंसा की पूर्ण पराकाष्ठा का फल बतलाते हैं–

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्याग:।

– योग सूत्र 2/32

अर्थात् अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुँच जाने वाले साधक के प्रति प्राणीमात्र वैर छोड़ देते हैं, इसी कारण से इस अहिंसा के पूर्ण प्रतीक हमारे ऋषि मुनियों के आश्रमों में शेर, चीता और साधारण व अन्य मृगादिकों का समान मैत्री भाव से रहना सुनते हैं।

प्रश्न– हे गुरुदेव ! आपने जिस अहिंसा का वर्णन किया है वह अहिंसा तो साधना साध्य है, अर्थात मनुष्य प्रयत्न करता रहेगा तो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को दु:ख न देने वाली भावना की पुष्ट होती रहेगी। और भावना होती रहेगी तो शनै: शनै: वह अहिंसक हो ही जायेगा। किन्तु जिस समय मन में गुणधर्म वर्तमान होगा तो गुणवृत्ति विरोध होने के कारण दूसरे को दबाने व कुचलने वाले भाव जिनमें हिंसा वृत्ति ही प्रधान रहेगी तो ऐसी स्थिति में साधक अहिंसक किस प्रकार बन पायेगा ?

उत्तर– हाँ, पुत्र तुम्हारी यह बात तो बिल्कुल ठीक है यह हिंसा साधना साध्यात्मक है ही। इसके अतिरिक्त जो तुम चाह रहे हो कि योगी के मन में हिंसात्क भावों का बिल्कुल अभाव ही हो जावे तो यह तो तभी हो सकता है जब योगी सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्ठा को पहुँच जाये और वह यह देखने लगे कि प्राणी मात्र के अन्दर वह स्वयं ही आभाषित हो रहा है और प्राणीमात्र में जो स्पन्दन क्रिया है वह उसकी अपनी ही है। ऐसी स्थिति में जब कि वह बिल्कुल एकता अर्थात्

अभिन्नता देखता है वह सारे संसार के प्राणियों को अपने में तथा सारे संसार के प्राणियों में अपने आपको देखता है। इस स्थिति में राग द्वेष, दुख, शोक, मोह आदि से दूर होकर सर्वत्र एकता ही एकता का दर्शन करता है।

तत्र कामोहः कः शोकः, एकत्वननु पश्यतः।

निश्चय यही स्थित पूर्णता की होती है। इसमें पहुँचकर मनुष्य राग द्वेष, आदि से परे हो जाने के कारण किसी से भी विरोध बुद्धि नहीं रखता है और अपने ही आत्मभूत सब को जानकर सब से प्रेम करता है, हिंसा की भावना पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाया करती है, वस्तुतः यही अहिंसा की पराकाष्ठा कहलाती है।

प्रश्न– हे गुरुदेव ! यह तो बिल्कुल ठीक है ऐसी स्थिति में तो मनुष्य अहिंसक स्वतः ही हो जायेगा किन्तु एक साधारण साधक के अन्दर तो राग, द्वेष आदि के भाव आ ही सकते हैं। चाहे उसका मन कितना ही एकाग्र क्यों न हो, किन्तु यह स्वाभाविक सी वस्तु है कि अपने मन के विपरीत भावों को देखता है तो ईर्ष्या, द्वेष आदि स्वाभाविक बनते ही हैं उसका निराकरण कैसे हो सकेगा ?

उत्तर– हे पुत्र ! तुम बात तो ठीक कह रहे हो, किन्तु यह बात तो हम तुम्हें पहले समझा चुके हैं कि ऐसी स्थिति में साधक को अपने मन, बुद्धि और शरीर पर नियंत्रण रखना चाहिये अन्यथा एक एकाग्र मन वाले साधक द्वारा तो दूसरों का बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। इसीलिए तो योगाभ्यासियों को एकान्त सेवन की आज्ञा दी गई है। भगवान श्रीकृष्ण का भी इस प्रकार का आदेश है–

निर्मानमोह जितसङ्गदोषा–अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै–र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।

अर्थात् जो साधक मान–मोह से रहित होकर एवं रागद्वेष आदि के संगदोषों से बचकर के अपनी मानस कामना पर पूरा अधिकार प्राप्त कर के तथा सुख–दुख संज्ञक द्वन्द्वों से छूट कर ध्यानयोग का अभ्यास करते हैं वही उस अव्यय पद को प्राप्त किया करते हैं अन्यथा राग द्वेष आदि के द्वारा तो मनुष्य का पतन हो ही जाता है और विशेषतः अध्यात्म प्रधान व्यक्ति को तो सदा सर्वदा शुभसंकल्पवाला ही होना चाहिये। यदि अध्यात्म प्रधान व्यक्ति के मन में किसी के प्रति द्वेष वश कुसंकल्प रहते हैं तो दूसरे का तो अनिष्ट अवश्य ही हो सकता है और यह इतना बड़ा अनिष्ट हो सकता है कि जितना संसार लड़ाई झगड़े एवं वाद–विवाद आदि में भी न हो पाये। मानस हिंसा इसी से बहुत ही भयानक और अनिष्टकर होती है इससे दो प्रकार की हानि होती हैं। (1). योगी जिसके प्रति अशुभ संकल्प रखेगा उसका अनिष्ट तो होगा ही होगा किन्तु उस योगी का अपना भी अनिष्ट होगा क्योंकि उसकी अपनी संग्रहीत शक्ति का बिना ही किसी विशेष कारण के निष्कासन हो जायेगा जो योगी की एक अनुपम निधि होती है वह चली जाती है। साथ ही दूसरे का अनिष्ट करने की भावना रखने से योगी अपने सिर पर पुण्यों की अपेक्षा पाप बढ़ा लेता है। योगज्ञान होता तो है सद्गति प्राप्ति के लिए किन्तु इस प्रकार के अनिष्ट मानस भावों में लगने से योगी सद्गति भाजन नहीं हो पाता, प्रत्युत उत्थान की अपेक्षा पतन की ओर

चला जाता है। इस लिए साधक को चाहिये कि अपने आप पर पूरा नियंत्रण रखे और राग–द्वेष आदि की अग्नि से अपने आपको जागरूक रह कर बचाये रहे।

प्रश्न– हे गुरुदेव ! क्या सचमुच यदि अध्यात्म–प्रधान व्यक्ति किसी के प्रति अनिष्ट भावना रखता है तो उसका अनिष्ट हो ही जाता है ? क्या आपने कोई ऐसी घटना देखी है जिसमें किसी का इस प्रकार का अनिष्ट हुआ हो ? यदि देखी है तो कृपा करके मुझे बतला दीजिये जिससे कि मेरे मन के संदेहों की निवृत्ति भी साथ–साथ होती चले।

उत्तर– हम तो इस प्रकार की बहुत सी घटनायें जानते हैं जिनमें अध्यात्म प्रधान व्यक्तियों के शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के संकल्पों का इष्ट अनिष्टता में परणित होता रहा है। तुम्हारे कथन को सुनकर हमें एक आँखों देखी घटना याद आ रही है जो बहुत ही विलक्षणता के साथ घटित हुई थी। और यह सम्बन्धित है आनन्दकन्द परम कृपा–निधान श्री प्रभुजी योगेश्वर प्रभु रामलाल जी महाराज के चरणों में घटित हुए जीवन से। श्री प्रभुजी के चरण–कमलों में एक ब्रह्मचारी निवास करते थे जो श्रीप्रभुजी के बहुत ही कृपापात्र बच्चे थे। वह अमृतसर में किसी स्थान पर अध्ययन करते थे। उनका एक साथी जो उनका एक प्रकार का मित्र भी था, उसके साथ उसका कुछ पारस्पारिक वाद–विवाद हो गया और उस वाद–विवाद के कारण इन दोनों के मन में मानस संघर्ष चलने लगा। श्री ब्रह्मचारी जी के साथी लड़के ने ब्रह्मचारी की अनुपस्थिति में उनकी एक पुस्तकों का ट्रंक पूरा–भरा हुआ चुरा लिया। जिस ट्रंक में सांख्य योग, न्याय, मीमांसा आदि योग–दर्शन थे एवं अन्य वेद–वेदान्त आदि के बड़े–बड़े ग्रन्थ थे। ब्रह्मचारी जी को उनके चुराये जाने पर बहुत बड़ा मानस क्षोभ हुआ और उस लड़के के प्रति बदला लेने की भावना उनके मन में बनी रहने लगी। ब्रह्मचारी जी अच्छे योगाभ्यासी थे। जब भी वे ध्यान में बैठते तब ही वे भगवान शिव के स्वरूप में लीन हो जाया करते थे।

प्रश्न– हे गुरुदेव लीनता किसको कहते हैं और वे ब्रह्मचारी भगवान शिव के स्वरूप में लीन कैसे हो जाते थे ?

उत्तर– हे पुत्र ! देखो लीनता का अर्थ है कि इष्टदेव के स्वरूप में स्वरूप, मन में मन बुद्धि में बुद्धि, चित्त और अहंकार में अहंकार मिला देने से साधक की बुद्धि तदाकार हो जाया करती है।

प्रश्न– हे गुरुदेव तदाकारकारिता तो और भी कठिन शब्द है मुझे तो बिल्कुल खोल के स्पष्ट रूप से समझाइये जिससे मैं भली प्रकार समझ जाऊँ कि तदाकार क्या होता है ?

उत्तर– हे पुत्र! देखो तदाकार का अर्थ यह है कि जब साधक अपने मन बुद्धि प्राणों को अपने इष्टदेव के स्वरूप में विलय कर देता है तो उसको यह अनुभव होने लगता है कि मैं स्वयं शिव ही हूँ। ऐसी अवस्था में उस साधक के मन में जो भी शुभाशुभ संकल्प बनते हैं वे उसके अपने नहीं होते प्रत्युत स्वयं भगवान शिव के होते हैं। ऐसी स्थिति में किसी दूसरे का अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक ही हो जाता है।

प्रश्न– हाँ तो गुरुदेव आप उस ब्रह्मचारी की और उसके मित्र के पारस्परिक बाद–विवाद की बात कह रहे थे फिर क्या हुआ आगे ?

उत्तर– हाँ पुत्र, उसके बाद वे ब्रह्मचारी जी जब भी ध्यान में बैठते थे और भगवान शिव के स्वरूप में ज्यों ही लय होते थे त्यों ही वह धर्मभानु नाम का लड़का भूतपूर्व मित्र सामने आ

जाता था और उसके सामने आते ही भगवान शिव स्वरूप स्थिति होने के कारण ब्रह्मचारी जी को तीसरा नेत्र खुलने को हो जाता तब ही उनका ध्यान हट जाता था यह सब ध्यान की स्थिति उन्होंने श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में निवेदन की और कहा तो श्री आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि बेटा तुम आठ रोज बिल्कुल ध्यान में मत बैठो अन्यथा तुम्हारे इस मित्र का अवश्य अनिष्ट हो जायेगा उस ब्रह्मचारी जी ने अपने गुरुदेव आनन्दकन्द प्रभुजी की आज्ञा मानकर के आठ दिन को अभ्यास छोड़ दिया किन्तु मन में उस अपने मित्र लड़के के प्रति अशुभ संकल्प बने ही रहे। और साथ ही आठ दिन ध्यानाभ्यास में न बैठने का मन में प्रति क्षोभ भी बना रहा। वे यह सोचते रहे कि यह लड़का मेरा अच्छा दुश्मन बना कि जिसके कारण मेरा ध्यानाभ्यास भी हटा दिया गया। मेरे बड़े अशुभकर्म रहे जो ऐसे दुष्ट का सम्पर्क मिला। वह मन ही मन कहने लगा। गोस्वामी तुलसीदास जी ने बिल्कुल सत्य कहा है कि —

दुष्ट संग जनि देइ विधाता।

या ते भला नरक का वासा।।

इस मित्र ने तो मेरी बहुत दुर्दशा कर दी। मेरा ध्यानाभ्यास छूट गया और मेरे अच्छे — अच्छे ग्रन्थों का जिनका संग्रह मैंने बहुत ही कठिनता से किया था वह सब भी चुरा लिया। ब्रह्मचारी जी इसी दुःख से बहुत दुखी रहते थे। आठ दिन निकल जाने के बाद उन्होंने एक दिन प्रभु जी के चरणारविन्दों में प्रार्थना की कि हे प्रभुजी आठ दिन हो गये, मेरा ध्यानाभ्यास छूट गया है अब क्या आज्ञा है क्या मैं अपने पूर्व ध्यानाभ्यास का आरम्भ करूँ। ब्रह्मचारी जी ने यह बात ऐसे समय में पूछी जब कि श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में अधिक भीड़ की उपस्थिति थी। श्री आनन्दकन्द प्रभु जी ने उस भीड़ ही में ही उत्तर दे दिया कि हाँ बेटा काफी दिन हुए तुम्हारा अभ्यास छूट गया है अब तुम अपने अभ्यास में बैठ जाया करो। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की आज्ञा प्राप्त करके जब वे ब्रह्मचारी ध्यान में बैठे तभी चिन्तनमात्र से ही भगवान शिव के स्वरूप में लय हो गये और लीनता प्राप्त हो जाने के बाद वही लड़का बड़े गन्दे अभिनय के साथ उनके सामने आ गया जिसको देख करके ब्रह्मचारी के मन में और भी अधिक उद्वेग हो गया। बहुत दिन के बाद ब्रह्मचारी समाधि में बैठ पाये थे इस लिये एकाग्रता भी बहुत अधिक वेग से हुई जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने देखा कि उनके भ्रूमध्य से एक तीसरे नेत्र का उद्गम हुआ और उस नेत्र से चिनगारी निकलकर उनके उस साथी पर जा पड़ी। और चिनगारी के पड़ते ही उनको दिखलायी दिया कि वह लड़का बहुत तिल–मिला उठा है। उसने अपने कपड़े सब फाड़ डाले हैं और पुस्तकों का जो ट्रंक उसने चुराया था उस ट्रंक से वे सब पुस्तकें निकालकर फाड़ डाली एवं आग लगा ली। उस लड़के ने उन पुस्तकों के साथ अपनी अन्य पुस्तकें जो उसके अध्ययन की थीं वह भी जला दी एवं साथ ही अपने कपड़े और बिस्तर आदि भी जला दिये हैं। यह सारी की सारी ज्यों का त्यों घटना ब्रह्मचारी जी ने ध्यान में देख ली। और श्री प्रभुजी के चरणाविन्दों में जाकर निवेदन किया कि हे प्रभो ! आज तो मेरे ध्यान में इस प्रकार की घटना घट गई, पता नहीं यह क्या कैसे हुआ ? श्री प्रभुजी उसकी इस बात को सुनकर बहुत ही नाराज हुये और कहा कि ठीक है तुम लोग इस प्रकार लोगों का अनिष्ट किया करो और हम तुम्हारे किये हुए पापों को भोगते रहा करेंगे। श्री प्रभुजी ने उस ही समय हम लोगों को आज्ञा दी कि जाओ देखो

जाकर के उस लड़के की क्या हालत है। जब हम लोगों ने उस ब्रह्मचारी के मित्र लड़के के स्थान पर जाकर उस की हालत देखी तो वह वस्तुत: पागल हो गया था और उसने अपनी पुस्तकों का वह ट्रंक और घर के सब वस्त्र स्वयं आग लगा कर जला दिये थे। आसपास के लोगों ने उसको रस्सियों से बांधा हुआ था और उसे पागलखाना ले जा रहे थे। तब हम लोगों ने उसको नासिका से जबरदस्ती दुग्धपान कराया और उसके सिर में मलाई आदि की मालिश कराई व अन्यान्य यौगिक उपचार कराये तब वह ठीक तो हो गया किन्तु क्षति उसे बहुत पहुँच गयी थी।

यह हुआ एक योगी की मानसी हिंसा का परिणाम, यदि एक योगी मन की एकाग्रता के समय में किसी के प्रति अनिष्ट भावना रखता है, तो उसकी एकाग्रता की शक्ति से उसका अनिष्ट होना स्वाभाविक ही हो जाता है। इसलिये साधक को चाहिये कि वह यत्वाक, यत्काय, और यत्मानसा रहे अर्थात् साधक को अपने मन वाणी एवं काया पर पूरा–पूरा नियंत्रण रखना चाहिये क्योंकि उसका मन एकाग्र है, गोली से भरी हुई बन्दूक के समान है यदि बन्दूक चल गई तो दूसरे का घात कर ही डालेगी, इसलिए अध्यात्म–प्रदान योगी को चाहिये कि वह अपने मन, काया वाणी पर पूरा–पूरा नियंत्रण रखे। और किसी का भी अनिष्ट न होने दें। तभी वह शक्ति का केन्द्र एवं सर्व समर्थ बन सकेगा। अन्यथा इन अन्तराओं के कारण जैसे का तैसा रह सकता है।

प्रश्न– हे गुरुदेव ! वह ब्रह्मचारी आठ दिनके बाद अभ्यास में बैठे तब एकाएक ऐसा क्यों हो गया, पहले जब वे अभ्यास करते रहते थे तब तो ऐसा नहीं होता था अब ऐसा क्यों हो गया ? कृपाकर यह बात भी मुझे समझा दीजिये ताकि मैं भी सावधान रह सकूँ।

उत्तर– हे पुत्र सुनो ! वह ब्रह्मचारी आठ रोज तब अभ्यास में नहीं बैठा उसकी आत्म शक्ति का प्रवाह इतने दिन तक रुका रहा और मन में उद्वेग बढ़ता रहा। शक्ति का प्रवाह तो मन में चल ही रहा था। इसलिए वह शक्ति मन में वेग के साथ संग्रहीत होती रही, और बड़े ही वेग के साथ उसका उद्वेग हुआ इसलिये वह उस लड़के का अनिष्ट का कारण बन गई। यह बात इस प्रकार की हुई जैसे कोई कृषक चलते प्रवाह वाली पानी कीनाली को मिट्टी का बांध लगा कर रोक देता है उस नाली में पानी का जब बहुत अधिक संग्रह हो जाता है तो इकट्ठे हुए जल का वेग उस बांध को तोड़ डालता है और जल बहुत ही तीव्र वेग के साथ आगे की ओर निकल जाता है। इसी प्रकार उस ब्रह्मचारी के मन शक्ति का प्रवाह तो प्रवाहित था ही आठ दिन उसका संग्रह और बढ़ता रहा इस कारण यह वही भरी हुई बन्दूक वाली बात जैसी बन गई। इसलिए साधक को चाहिये कि वह अपने मन व वाणी, पर पूरा–पूरा नियन्त्रण कर पाने का प्रयास करता रहे।

शिष्य– हे गुरुदेव ! आपने मुझ पर बहुत अधिक अनुग्रह किया अहिंसा के सिद्धान्तों को मुझे भली प्रकार से समझा दिया। अब मैं अपने अभ्यास काल में तो बिल्कुल ही सावधान रहूँगा– ऐसा मैं व्रत आपकी उपस्थिति में ले रहा हूँ।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

श्री म. त्रि. भट्ट

मनुष्य की सृष्टि करके प्रभु ने कला की सीमा दिखला दी है। मनुष्य के शरीर में उन्होंने कैसी-कैसी अद्भुत वस्तुएँ डाल दी हैं ? मन, बुद्धि, हृदय, मस्तिष्क, समझने की शक्ति-ये सारी सामग्रियाँ मनुष्य के शरीर में इकट्ठी कर दी हैं। इन्द्रिय शक्ति भी जितनी मनुष्य में है, उतनी और किसी प्राणी में नहीं है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य के शरीर में अनेक विशेषताएँ हैं। मनुष्य ही सृष्टि में ईश्वर की अति प्रिय वस्तु है। अतएव अनुभवी संतों का कहना है कि मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर नर से 'नारायण' अथवा जीव से 'शिव' बन सकता है। जीव तो शिवरूप है ही। केवल अविद्या के कारण इसका शिवभाव लुप्त हो गया है और वह जीव भाव की प्रधानता भोग रहा है। बकरों के झुंड में पाला-पोसा गया सिंहशावक अपने को बकरा ही मानता है, इसी प्रकार शिवरूप जीव संसार की माया में पड़कर अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर माया के राज्य में भूला-भटका फिरता है और अपने शिव स्वरूप को भूल गया है।

एक शिष्य ने गुरु से पूछा कि महाराज ! जीव स्वयं ईश्वर है, इसका प्रमाण क्या है ? जीव तो सामान्य है और ईश्वर महान है। जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है, फिर यह कैसे कह सकते है कि दोनों एक ही हैं ?

गुरु महाराज बोले कि 'यह मैं तुमको समझाता हूँ। परंतु अभी तुम इस कमण्डलु में मेरे लिए गङ्गाजल ले आओ।' शिष्य कमण्डलु में गंगाजल भरकर लाया। तब गुरु ने कहा- 'बच्चा ! यह गंगाजल नहीं है। मैंने तो तुम्हें गंगाजल लाने के लिए कहा था।' शिष्य ने कहा- महाराज ! यह गंगाजल ही है। मैं अभी गंगा जी से भरकर लाया हूँ। गुरु ने कहा- यदि यह गंगाजल है तो गंगाजी जैसी धारा इसमें नहीं है, गंगाजी में लोग नहाते हैं, इसमें नहाते नहीं दीखते। गंगाजी में नौकाएँ चलती हैं, इसमें कोई नौका चलती नहीं दीखती। गंगाजी में मगर, मछली आदि जलचर इसमें नहीं दीखते। इसलिये यह गंगाजल नहीं है। शिष्य ने कहा- महाराज! गंगाजल पात्र बहुत विशाल है, इसी कारण उसमें ये सब रहते हैं, यह कमण्डलु तो नन्हा-सा पात्र है, इसमें ये सब कैसे रहेंगे ? परन्तु गंगाजी में जो जल है, वही जल यह भी है। गुरु ने कहा- बच्चा ! इसी प्रकार ईश्वर विराट है और सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है ; और जीव नन्हें पात्र में है, इसलिये मर्यादित है, सीमित है। परंतु वस्तुतः यह ईश्वर ही है। यदि जीव को अपने शुद्ध स्वरूप का भान होता तो वह ईश्वर ही था, ऐसी प्रतीति होती है; अग्नि में से निकली चिनगारी अग्निरूप ही है। उसी प्रकार ईश्वर से निकला अंश, अग्नि की चिनगारी की भाँति ईश्वर ही है। अन्तर इतना ही है कि ईश्वर महान है और जीव अल्प है। परन्तु अविद्या के आवरण के कारण जीव पामर बन गया है। अविद्या का आवरण दूर होने पर

इसको अपने स्वरूप का भान होता है। पानी के ऊपर जीम काई को दूर हटाने से पानी मिलता है, उसी प्रकार आवरण को दूर कर दें तो ईश्वर का दर्शन हो सकता है। इस अविद्या को दूर करने के लिए अनन्त ज्ञानियों और महर्षियों ने अनेकानेक उपाय बतलाये हैं, उनमें मनोनिग्रह के ऊपर सबसे अधिक जोर दिया गया है।

पंचमहाभूत– पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के ऊपर ईश्वर की सत्ता है। तथापि हम देख रहे हैं कि वैज्ञानिकों ने इन पाँचों के ऊपर अपनी प्रभुता जमा रक्खी है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस जीव में ईश्वरी शक्ति है। परन्तु जीव स्वयं अपने को अल्पज्ञ, शक्तिहीन और पामर मानकर निष्क्रिय बना रहता है।

जो पुत्र पिता को अपने समान या अपने से सवाया दीखता है, वह अधिक प्रिय होता है। उसी प्रकार ईश्वर को भी अपने जैसे शक्तिशाली पुत्र, अर्थात् पुरुषविशेष प्रिय होता है और उसी के ऊपर प्रभु की कृपा अवतरित होती है।

मनुष्य को कसौटी पर कसने के लिए ईश्वर ने जगत में अनेक प्रलोभन डाल रक्खे हैं। इन प्रलोभनों को दूर हटाकर यदि मनुष्य अपने ध्येय पर डटा रहे तो वह परमपद को पा सकता है। परन्तु अधिकांश मनुष्य मान बैठे हैं कि इस संसार में आकर मनुष्य को सिर्फ खाना,पीना और मौज उड़ाना है। इसी में मनुष्य–जन्म की सार्थकता है। यदि मनुष्य–जन्म का यही हेतु हो तो, यह तो सभी पशु – पक्षी और जीव–जन्तुओं में भी है। फि मनुष्य जन्म की महत्ता क्या है ? परन्तु चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते–करते मोक्ष के द्वार–स्वरूप आर्यदेश और सब सामग्री की सुलभता के साथ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। इसमें अवश्य कोई हेतु निहित है। परन्तु इस अमोघ मानव–जन्म को आज मनुष्य व्यर्थ नष्ट कर रहा है। ईश्वर के द्वारा इसके लिए नियोजित मर्यादा का इसने यथेच्छ उल्लंघन किया है। यदि मर्यादा में रहकर गन्तव्य स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। नदी यदि अपने करारारूपी मर्यादा को तोड़कर स्वेच्छा विहार करे तो कितने ही गाँवों को मटियामेट कर दे , खेती–बारी बर्बाद कर दे, इतना ही नहीं, इसके साथ ही वह अपने प्रियतम सागर की प्राप्ति से वंचित रह जाये। अतएव इस मर्यादा के पालन में यत्नशील रहकर वह अपने गन्तव्य स्थान में सुखपूर्वक पहुँच जाती है। यही स्थिति मनुष्य की है। मनुष्य ईश्वर को पाने के लिए शास्त्रनिर्दिष्ट मर्यादा का यथार्थ पालन करके नियत पथ में चलकर प्रभु तक पहुँच सकता है, भव–भ्रमण को निवारण करके अगाध अविनाशी सुख–सिन्धु में निमज्जित होकर तदाकार हो सकता है। परन्तु अविद्या और मोह के कारण शास्त्र और सत्पुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट मर्यादा इसे नहीं दीखती। संसार का क्षणभंगुर भोग–सुख इसे बहुत प्रिय लग रहा है, संसार के प्रलोभनों में यह डूबा हुआ है। इसका मुख्य कारण इसका बहिर्मुख मन है।

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो: ।

संसार का बन्धन, भवाटवी का भ्रमण भी मन के ही द्वारा होता है तथा परमपद की प्राप्ति मोक्ष–लाभ भी मन के द्वारा ही होता है। इसलिए मन ही इसमें कारणभूत है। ऐसा शास्त्र कहते हैं। मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण मन है। इस मन को सुसंस्कृत बनाया

जाए तो यह मोक्ष अर्थात् परम शाश्वत सुख प्रदान करता है और यदि यह कुसंस्कार–युक्त रहे तो इस भवसागर के दुःखदायी भँवर में, जन्म–मृत्यु के चक्कर में डाले रखता है।

हम जानते हैं कि संसार की तृष्णा का त्याग मोक्षप्राप्ति के लिए उपयोगी साधन है। परन्तु फिर भी अधिकांश मनुष्य तृष्णा के मिथ्या माधुर्य का त्याग नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे अपने मन के दास है। मन जैसे नाचता है वैसे नाचते हैं। हम संसार के क्षणिक और तुच्छ भोग–सुखरूपी मृगमरीचिका के पीछे तृष्णा के वश होकर दौड़ रहे हैं। हम हृदय से जानते, देखते और अनुभव करते हैं कि तथाकथित सांसारिक सुख नाशवान् और क्षणिक है, तथापि हम अपने मन को संसार के राग–रंगों से हटाकर अपने ध्येय में नहीं लगा सकते, यह हमारी लज्जाजनक दुर्बलता है। हमारी आज की दुर्दशा का मुख्य कारण हमारा यह मन ही है। हम जिस कार्य को अपने अन्तःकरण में बुरा समझते हैं और करना नहीं चाहते, वह कार्य भी हमारा कुसंस्कारी मन हमसे बलपूर्वक कराता है। मनुष्य के बुरा या भला बनने का कारण उसके कर्म हैं और कर्म का सबसे बड़ा आधार मन है।

कर्म दो प्रकार से होते हैं। कुछ कर्म अकेला मन ही करता है और कुछ कर्म मन इन्द्रियों की सहायता से करता है। मनन, चिन्तन, भावना और स्वाध्याय आदि कार्य अकेला मन ही कर सकता है। जब कि उठना, बैठना, जाना, आना, बोलना, देखना, सुनना, खाना–पीना इत्यादि काम इन्द्रियों की सहायता से होते हैं। ऐसे कार्य इन्द्रियों की सहायता के बिना नहीं हो सकते। इन्द्रियाँ बहिर्मुख और जड़ होने के कारण अपनी इच्छा पूरी करने के लिए मन के पीछे–पीछे भटकती है। अतएव इन्द्रियाँ मन के वशवर्ती हो गई है। हमारे छोटे–बड़े सब कार्यों का सूत्रधार मन है, इसी कारण शास्त्रकार और ज्ञानी महार्षियों ने मनोनिग्रह पर बड़ा जोर दिया है। इन्द्रियाँ मनरूपी राजा की नर्तकी हैं। मन की मर्जी से वे नृत्य करती हैं और मन को प्रसन्न रखती हैं तथा स्वयं भी तुच्छ आनन्द प्राप्त करती है। वस्तुतः मन को जीते बिना इन्द्रियाँ जीती नहीं जा सकती।

मन को निरंकुश छोड़कर यथेच्छ विहार करने देना और केवल इन्द्रियों पर काबू रखना वंचनामात्र है। जब तक मन काबू में न हो, इन्द्रियों पर अंकुश रखने का प्रयत्न विशेष लाभदायक नहीं होता। सारे उपद्रवों का मूल तो मन है। वृक्ष की डाली और पत्ते की ओर न देखकर यदि केवल मूल को नष्ट कर दिया जाये तो वृक्ष स्वयं नष्ट हो जायेगा। अतएव मन का निग्रह ही सच्चा निग्रह है, यही सच्चा संयम है। राजा वश में हो जाए तो उसकी सेना अपने–आप वश में हो जाती है, उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किसी दुष्ट मनुष्य की दुष्टता का कारण भी उसका मन होता है और किसी महापुरुष की महानता का कारण भी उसका मन होता है। एक का मन कुसंस्कारपूर्ण होता है और दूसरे का मन सुसंस्कृत होता है। एक तो मन का गुलाम होता है और दूसरा मन को अपने अधीन रखता है अर्थात् मन उसका गुलाम होता है।

मनुष्य के मन में दो प्रकार की शक्तियाँ है। मनुष्य को उन्नति के शिखर पर भी ले जाती हैं और अवनति के भयंकर दुःखद गर्त में भी डाल सकती हैं।

पारा कच्चा हो तो वह अनिष्टकारक होता है और यदि शुद्ध किया हो तो वह हितकर

होता है। कच्चे पारेसे मनुष्य का जीवन नष्ट होता है और संस्कार किये हुये शुद्ध पारे को आयुर्वेद में चमत्कारिक औषध के रूप में वर्णन किया गया है। मन की स्थिति भी पारा–जैसी है। संस्कारहीन मन मनुष्य के अमूल्य जीवन को नष्ट–भ्रष्ट कर डालता है और सुसंस्कृत मन मनुष्य के उद्धार का कारण बनता है।

अब प्रश्न यह होता है कि मन को सुसंस्कृत कैसे बनायें ? क्या अपने में यह शक्ति नहीं है ? नहीं, शक्ति तो है; परन्तु उस का हम उपयोग नहीं करते। यदि कोई यह कहे कि मन तो हमारे अधीन है, फिर हम इसके गुलाम कैसे हैं ? इसका उत्तर यह है कि घोड़ा अपने सवार के कब्जे में होता है, परंतु यदि बिना लगाम के सवार घोड़े पर सवारी करे तो वह घोड़े के अधीन हो जाता है और सुरक्षित नहीं रहता; फिर तो वह घोड़ा जहाँ ले जाता है, वहीं उसको जाना पड़ता है। यही हाल मन का है।

एक बुढ़िया माँ के मन में एक बार विचार आया कि मैं दूसरी सब सवारियों पर तो बैठ चुकी हूँ, घोड़े पर भी चढ़ चुकी हूँ, पर ऊँट की सवारी मैंने कभी नहीं की। दैवात् एक बार किसी पर्व के दिन वह बुढ़िया माँ तीर्थ में स्नान करके झोले में वस्त्र डालकर, हाथ में जल भरा लोटा लेकर घर लौट रही थी। रास्ते में उसने एक पेड़ के नीचे एक ऊँट को बैठे देखा और बहुत दिन का मन में दबा हुआ विचार प्रकट हो गया। बहुत दिनों से ऊँट पर बैठने का विचार कर रही हूँ तो आज क्यों न इस ऊँट पर बैठ कर घर जाऊँ ? ऐसा सोचकर बुढ़िया माँ उसके ऊपर बैठ गयी। जैसे ही बुढ़िया माँ ऊँट पर बैठी कि वह ऊँट अपने स्वभाव के अनुसार खड़ा हो गया और मनमाने रास्ते पर चल पड़ा। बुढ़िया माँ घबरा गई। ऊँट को कैसे रोकूँ और कैसे इसे फिर से बैठाऊँ ? यह बुढ़िया माँ को ज्ञान न था। ऊँट के नकेल भी नहीं बँधी थी, कोई साधन भी पास न था। इसलिये बुढ़िया माँ निरूपाय थी। ऊँट जंगल की ओर चलने लगा। रास्ते में किसी जान पहचान वाले एक आदमी ने पूछा, ' माँ जी ! कहाँ जारही हो ? ' तब बुढ़िया ने उत्तर दिया, भाई ! जहाँ ऊँट ले जाये वहाँ। '

हमारी स्थिति भी उस बुढ़िया माँ के जैसी है। हम मन के ऊपर सवार हैं ; परन्तु मन को लगाम नहीं है तथा इस को वश में करने की कला भी हाथ में नहीं है। इसलिए हमको मन जहाँ ले जा रहा है,वहीं हम चले जा रहे हैं। अपनी इच्छा तो घर जाने की है– परम पद को प्राप्त करने की है। परन्तु मन रूपी ऊँट को रोकना नहीं आता। इस कारण बेकाबू मन पर सवार होकर हम लाचार हो गये हैं। मन अपने अधीन है, परन्तु जन्म से ही निरंकुश–बेलगाम होने के कारण पूर्णत: उदण्ड और उन्मत होकर हमारे ऊपर चढ़ बैठा है। यदि हमने शुरू से ही इसके ऊपर अंकुश रक्खा होता तो यह ऐसा प्रचण्ड स्वेच्छाचारी बनकर हमें परेशान न करता और इसका निग्रह दु:साध्य न बन जाता।

प्रारम्भ में ही थोड़े प्रयत्न से जिस मन को हम परम हितकारी मित्र बना सके होते, उसी को हमने अपनी असावधानी से ऐसा शत्रु बना लिया है। अब तो ' जब जागे तभी सवेरा ' नीति के अनुसार प्रयत्न शुरू कर देना चाहिए। शत्रु जितना बलवान हो, उससे अधिक बलवान बनने की आवश्यकता है। विद्युत्गति से भी तीव्रगामी मन को रोकने में अत्यन्त बल की आवश्यकता है। अधिक जागृति और लगन की जरूरत है।

सारी सिद्धियों का मूल 'मन:संयम' में है। परन्तु वह केवल साधारण या नाममात्र के पुरुषार्थ से प्राप्त होने वाला नहीं है इसके लिए प्रबल पुरूषार्थ की तथा योग–युक्ति की आवश्यकता है। विकराल जंगल के जीव को वश में करने के लिए जैसे तीव्र उपाय की आवश्यकता है, उसी प्रकार मनोनिग्रह के लिए भी तीव्र उपाय जरूरी है।

मन को पहले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध–इन पाँच विषयों के चिन्तन से विरत करके शुभ चिन्तन में लगाना चाहिये। विषयों की असारता का पाठ इसको देते रहना चाहिये। फिर धीरे–धीरे विषयों से इसमें वैराग्य उत्पन्न कराना चाहिये। संसाररूपी घोर वन में से निकालकर भगवदच्चिन्तन , तत्वविचार रूपी वृक्ष के धड़ में इसको दृढ़ता पूर्वक बाँध देना चाहियेऔर बुद्धिरूपी अंकुश के द्वारा इसको वश में करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये। श्रीमद्भगवदगीता में भगवान श्रीकृष्ण ने मनोनिग्रह उपाय 'अभ्यास' और ' वैराग्य ' बतलाया है। योगेश्वर महर्षि पतंजली ने भी योगशास्त्र में 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ' यह सूत्र लिखा है। अभ्यास के द्वारा उद्धत मन वश में होता है और इसी के साथ–साथ वैराग्यद्वारा उसको निर्मल, कोमल और शान्त बनाया जा सकता है। अभ्यास के साथ वैराग्य की भी आवश्यकता है।

संसार के महत्कार्यों का सम्पादन करने में दीर्घकाल तक सतत पुरूषार्थ की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बहिर्मुख होकर भटकने वाले मन को वश में करने के लिए दीर्घकाल तक आदरपूर्वक प्रबल पुरूषार्थ करने की नितान्त आवश्यकता है। अल्पकाल के थोड़े प्रयत्न से एकाएक मन प्रबल नहीं हो सकता, इसके लिए लम्बे समय तक प्रबल परिश्रम करना पड़ता है।

मनोनिग्रह का दूसरा उपाय श्री कृष्ण भगवान ने 'वैराग्य' बतलाया है। मनुष्य का मन संसार के रागद्वेष के चक्कर में पड़कर अति चंचल तथा मलिन बन गया है। अनेक जन्म से वह सांसारिक विषयों में भटक रहा है। राग–द्वेश की तरंगों ने मनरूपी समुद्र में क्षोभ उत्पन्न करके इसको अशान्त और तूफानी बना दिया है। इसमें कुविचारों की घोर तरंगें उठ रही हैं और जीवन नौका संकटापन्न होकर भयानक स्थिति में पड़कर अन्त में विनाश को प्राप्त हो रही है।इस राग–द्वेष को निर्मूल करने का एक हीउपाय है – ' वैराग्य '।

त्याग और वैराग्य– इन दोनों में अन्तर है। त्याग इन्द्रियों द्वारा हो सकता है और वैराग्य मन के द्वारा होता है। विषयों की ओर बलात् इन्द्रियों को रोक रखने पर भी मन उन विषयों में रमण रहता ही है। अर्थात् त्याग की अपेक्षा वैराग्य विशेष उपकार करने वाला है।

आर्यावर्त्त में ऐसे असंख्य महात्मा हो गये हैं जिन्होंने मनोनिग्रह के द्वारा असम्भव को सम्भव और अशक्य को शक्य बनाया है। मन:संयम के द्वारा अपनी इच्छाशक्ति अमोघ बनती है। यह अमोघ इच्छाशक्ति दृढ़ संकल्प की जननी है और दृढ़ संकल्प ही उद्धार का मूलमंत्र है।

इन्द्रियों को उन के विषयों में लगाने वाला, प्रवृत्त करने वाला मन है। मन यदि इन्द्रियों का सहायक न बने तो इन्द्रियाँ कुछ भी न कर सकें।

लिखना पढ़ना चातुरी, तीनों बात सहेल।
कामदहन मनवशकरन, गगन चढ़न मुस्केल।।

' जिसने मन को जीता उसने जगत् को जीत लिया'– ऐसा कहावत भी है।' जित जगत केन ? मनो हि येन।'

मन की शक्ति अथाह है, अद्भुत है। हम सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो जान पड़ेगा कि मन कैसे अद्भुत विचार करता है, कितनी अधिक याददाश्त रखता है तथा कितनी कल्पनाएँ करता रहता है और इसकी गति कितनी वेगवान् है। यह सब देखने पर मन की विपुल शक्ति का हम को भान होता है। पर साथ ही यह मन मनुष्य का आज्ञाकारी नौकर भी है। मनुष्य जो कुछ चिन्तन करता है, उसको मन उसके पास हाजिर कर देता है। इतना ही नही, मनुष्य की इच्छा के अधीन वह मृत सगे–सम्बन्धी तथा स्नेही जनों को भी स्वप्न में हाजिर करके उनके साथ भेंट–मुलाकात और बातचीत भी करा देता है। वह स्वप्न में देवी–देवता या संत – महात्माओं के दर्शन भी कराता है। अशक्य वस्तु को भी यह शक्य बनाता है। मनुष्य को उसकी इच्छा के अनुसार संसार में भ्रमण भी कराता है और संसार के जन्म–मरण के चक्र से उबार कर परम शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष भी प्रदान कराता है। इसी कारण ज्ञानी, अनुभवी संतों ने कहा है–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

संसार चाहिये तो उसे भी मन प्रदान करता है और परम सुख, मोक्ष चाहिये तो उसको भी मन प्रदान करता है। मनुष्य की सेवा में चौबीस घण्टे उसकी आज्ञा पूरी करने के लिए मन खड़ा तैयार रहता है।यह कभी थकता नहीं, न कभी वृद्ध होता है। मन सतत उद्योग में रहता है। इसको किसी काम में लगाये रखना मनुष्य के हाथ में है। इसके जैसा आज्ञाकारी मित्र या नौकर दूसरा कोई नहीं है। परन्तु इस मित्र को अपने वश में कर रखने के लिए चतुराई की आवश्यकता है।

व्यवहार में भी जिस काम को न करने के लिए बालक को कहिये, उस काम को वह खास करके करेगा। अतएव शिक्षण शास्त्र में कहा है कि बालक को नकारात्मक आज्ञा नहीं देनी चाहिये। 'झूठ मत बोलो '– यह न कहकर कहना चाहिये कि 'सच बोलो।' आलस्य न करो ' – के स्थान में कहना चाहिये कि ' उद्यमी बनो। 'इसी प्रकार मन को भी जिस काम से निवारण किया जायेगा, उसमें उसको चाहिये कि 'उद्यमी बनो।' इसी प्रकार मन को भी जिस काम से निवारण किया जायेगा, उसमें उसकी विशेष प्रवृत्ति रहेगी। एक संत ने एक शिष्य से कहा कि जब ध्यानकरने बैठो तो अमुक आदमी को याद मत करना । अब शिष्य जैसे ही ध्यान करने के लिए बैठा, वैसे ही वह आदमी उसके सामने, उसके मनोराज्य में उपस्थित हो गया।इसी प्रकार मन से जो काम करवाना न चाहोगे, उस काम को वह खास करके करेगा।

मन कभी बेकार नहीं रहता, वह प्रतिक्षण कुछ–न–कुछ करता ही रहता है। मनुष्य निदित रहता है, तब भी मन स्वप्न सृष्टि में विचरण करता रहता है। इस मन को विहित कार्य

में सतत लगाये रखने के लिए मनुष्य को निरन्तर जागरूक रहना चाहिये और मन क्या कर रहा है– इसकी सजग होकर पहरागिरी करनी चाहिये, ऐसा महापुरुषों का कहना है।

मन का रूझान संसार की ओर होने के कारण यह संसार के प्रलोभनों में पड़ जाता है। नई–नई उपाधि खड़ी कर देता है। कुतर्क और कुविचार में लग जाता है। परन्तु शास्त्रों का कहना है कि उसको बार–बार युक्तिपूर्वक समझाकर श्रेय, कल्याणकारी मार्ग में लगाना चाहिये। मन बलात्कार करने से काबू में नहीं आता, परन्तु समझाने से समझता है। जो मनुष्य मन को वश में नहीं रखता, बल्कि मन की इच्छा के अनुसार बरतता है, वह अवनति के गर्त में गिरता है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं।

मन को यदि भलीभाँति समझाकर सुसंस्कार–सम्पन्न किया जाये तो वह सारे अच्छे–अच्छे विचारों में रमता रहता है और वे सद्‌विचार क्रिया में परिणत होते रहते हैं। अच्छी तरह सुशिक्षित दृढ़ मन शरीर को भी नीरोग रख सकता है। परन्तु मनका स्वभाव चंचल होने के कारण वह घड़ी–घड़ीमें छटकता रहता है, स्थिर नहीं रहता। वह वायु के समान चंचल है।

मनुष्य जप या ध्यान में बैठा रहता है, तो भी उसका मन बाहर के विषयों में भटकता है। हाथ में माला फिरती रहती है और जीभ से मंत्र–जप होता रहता है, उस समय भी मन बाहर भटकता रहता है, अथवा दिनभर के कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करता रहता है, प्रोग्राम बनाता रहता है। ध्यान और जप करते समय मन तरङ्गित होता रहता है अर्थात् जप और ध्यान में जितना चाहिये उतना उपकारक नहीं होता। फिर भी हम यह सब करते रहने पर भी संतोष रखते हैं। हाड़–मांस के चोले, इस शरीर को प्रभु की मूर्ति के सामने रखकर मन को हम यथेच्छ भ्रमण करने देते हैं। जिस मन को प्रभु में लगाना है, वह तो संसार के रागरंग में बहार करता है, अर्थात् प्रभु में लगता नहीं। जिस कार्य में मन नहीं लगता, वह काम ठीक नहीं होता।

छुट्टा और हरहा पशु को वश में करने के लिए यदि उसको मारें, पीटें और उसपर जुल्म करे तो वह और अधिक हरहा बन जाता है और छट के रहने की कोशिश करता है। कुछ भी करो, वह वश में नहीं होता। परन्तु यदि उसको पुचकार कर,प्रेम दिखाकर, खाने का लालच देकर धीरे–धीरे विश्वास जमाकर पास बुलाये तो वह लालच और प्रेम के वश में करने का प्रयत्न किया जाये तो वह भटकता हुआ मन और भी दूर भागता है और मनुष्य को हैरान, परेशान कर डालता है। परन्तु यदि उसको प्रेम से संसार की असारता समझाकर, मोक्षसुख का लालच देकर, पटाकर, पुचकारकर स्थिर किया जाये तो धीरे–धीरे वह वश में हो जाता है। उसका केवल सद्‌विचार, सदाचार, मोक्षसुख और ब्रह्मानन्द आदि में प्रेम उत्पन्न करना जरूरी है।

बालक को यदि उसके माँ–बाप 'तू तो आवारा है, उद्दत है, बदमाश है, लम्पट है' आदि वाक्य जब–तब कहकर भर्त्सना देते रहें तो वह बालक बदमाश, लम्पट और आवारा हो जाता है और दिन–पर–दिन उच्छृखल बनता जाता है। परन्तु उसको समझाकर, पटाकर, उसकी प्रशंसा करके, कुल की कीर्ति का ध्यान दिलाकर, अच्छे काम के लिए

प्रोत्साहन देकर प्रेमपूर्वक सद्विचार, सदाचार और सद्धर्म की ओर अग्रसर कराने का प्रयत्न किया जाये तो वह बालक सुधर जायेगा और आसानी से वश में हो जायेगा। इसी प्रकार मनुष्य मन को, ' यह खराब है, भटक रहा है, राक्षस बन रहा है, वानर–जैसा चंचल है, दुष्ट है, यह समझने वाला नहीं है'– इत्यादि कहते रहने से अथवा चिन्तन करने से मन ढीठ होकर और बहक जाता है और फिर किसी प्रकार वश में नहीं होता। परन्तु मन को उसकी महत्ता समझाकर सारासार–विवेक में लगाकर उसको धीरे–धीरे स्थिर करवाने तथा सारे श्रेयस्कर विचारों में, शुभ भावनाओं में लगाये रखने का सात्विक प्रयत्न किया जाये तो यह मन मनुष्य का गुलाम बन जाता है। फिर इसे जो काम सौंपा जाता है वह प्रसन्नता से करता है। परन्तु यह काम चार–छः दिन में या वर्ष दो वर्ष में बनने वाला नहीं है। इसके लिए तो सतत प्रयत्न आवश्यक है। हम कुछ दिन प्रयत्न करके बैठ रहें तो यह काम होने वाला नहीं। संसार के तुच्छ विषयों में हमारा अधिक अनुराग है, इनमें हम कितना अधिक रममाण रहते हैं, इसको हमारा मन भी समझ गया है, वह हमको पहचान गया है। इसलिए यह हमारे आगे–आगे चलकर हमारी वृत्तियों को मार्गदर्शन कराता है और हमको दौड़ाता है। हम व्यवहार और परमार्थ दो घोड़ों पर सवारी करने की इच्छा करते हैं, अर्थात् हमको एक में भी निष्ठा नहीं है। अतएव हमारा प्रयत्न निष्फल हो जाता है। हमारा प्रयत्न भी ऊपरी और क्षणिक है– इस बात को भी मन भलीभाँति समझता है। अतएव यह वश में नहीं होता। और हम उलटे उसे विभिन्न प्रकार के विषयों की ओर आकर्षित करते हैं। अतएव वह रात में नींद में भी भटकता हुआ नई–नई सृष्टि रचता रहता है। नींद के छः घण्टों को छोड़कर शेष 18 घण्टें में कितनी देर हम मन, अन्तःकरण और इन्द्रियों को एकाग्रतापूर्वक संयम में रखकर प्रभु के पास बैठते हैं– इस पर विचार करें और मन को स्नेहपूर्वक अधिक से अधिक प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

अदृश्य बाँसुरी वादक की रहस्यमयी धुन

दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर, अलीगढ़

वह क्या चीज है जिसे हम जीवन भर खोजते रहते है ? अद्वैत गु 5 बालसेकर कहते हैं कि चाहे हम स्वीकार करें अथवा न करें किन्तु एक चीज है जिसे हम सबसे अधिक चाहते हैं और वह है सर्वत्र पारस्परिक शान्ति ! अपने परिवार, मित्रों और सहकर्मियों, जिनके साथ हमें अपना समूचाजीवन व्यतीत करना होता है, उन सभी के साथ अपना सामंजस्य बिठाना।

हमारा अधिकांश असंतोष " क्या है ? " के विषैले प्रश्न से निकलता है और ' क्या होना चाहिये ? ' तक जारी रहता है। यह जीवन क्षण–प्रतिक्षण हमारे सामने " क्या है ? " को प्रस्तुत करता रहता है। " क्या होना चाहिए ? " – यह हमारे मन के शरारतीपन का खेल है, जो अतीत के अनेक वर्षों में घटित घटनाओं और समस्याओं के विश्लेषण पर आधारित है। और भविष्य में धनात्मक परिवर्तन के साथ संगठित है। अपनी अज्ञानता के कारण हम भ्रमजाल में फंस जाते है, जो हमारी वैयक्तिक शान्ति में बाधा डाले हैं।

दूसरों से यह आशा करना कि वे ऐसा व्यवहार करें जिससे हमें शान्ति मिले स्वाभाविक है ; किन्तु संभव नहीं। समस्याएँ तो वास्तव में हमारा 'मन' ही उत्पन्न करता है। व्यावहारिक, भावात्मक, वित्तीय, सामाजिक, विस्तार वादियों के समूहों, राष्ट्रों आदि से हमारी बढ़ती हुई आशाओं– अपेक्षाओं में हमारा मन उलझा रहता है।

रामकृष्ण और रमन जैसे गुरुओं ने कहा है कि विकास के दृष्टि विषयक व रूप विषयक चक्र में परिवर्तन, विनाश और पुनर्जीवन कभी नहीं था अथवा एक ऐसा समय अवश्य रहा होगा जब विश्व या समाज में संबंध की दृष्टि से पूर्णरूपेण वियोग रहा होगा। जीवन निश्चित रूप से उन व्यक्तियों के सम्मिलन से बना है, जो भिन्न–भिन्न रूपों में अपनी विशिष्ट भूमिकायें निभाते हैं। कुछ नेता होते हैं, कुछ योद्धा और कुछ विघटनकारी कार्य करते हैं........और बहुत से अन्य दर्शक मात्र होते हैं, जो घटनाओं को होने देने वाले साक्षी होते हैं– कभी सफलता के साथ और कभी असफलता के साथ अपने अच्छे प्रयत्नों के बावजूद।

जीवन को यदि भरपूर जीना है और श्रेष्ठतम करना है तो प्रदत्त परिस्थिति में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सीमाओं में रहकर व्यवहार करना होगा। स्वयं पर कठोर और केवल आलोचना ठीक नहीं। जॉन लिनोन ने कहा है – " जीवन वही होता है, जो तुम्हारे साथ गठित होता है, जब तुम योजनाऐं बनाने में व्यस्त होते हो। " वास्तव में जीवन हमारी योजनाओं से बहुत असम्बद्ध होता है। जीवन में एक रहस्यमयी सुन्दरता है जो मन के द्वारा की गई गणनाओं को परास्त करती है। ' क्वाण्टम' भौतिकवादी स्टीफेंन हॉकिंग कहता है "– जीवन में हर घटना पहले से ही निर्धारित होती है। साँचा पहले से ही बना दिया जाता है। इसलिए किसी न किसी तरह से इसे जानने और समझने में कोई फायदा नहीं है। संक्षेप में कोई भविष्य वाणी नहीं कर

सकता कि भविष्य क्या होगा ?

कौन – सी चीज हमारे जीवन को आनन्द और आश्चर्य प्रदान करती है ? कभी–कभी परिणाम हमें बहुत खुशी देता है और दूसरे ही क्षण वह निराशा में बदल जाता है। अतः हमें जो पूरे ध्यान और चिंता से अपने क्रियाकलापों में व्यस्त हैं, यह बात ठीक–ठीक समझ लेनी चाहिए कि परिणामों पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। अलबर्ट आइन्सटीन ने कहा था कि हर चीज ताकतों द्वारा निर्धारित होती है, जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। यह जैसे कीड़ों के लिए निर्धारित है वैसे ही तारों, मानव, सब्जियों या ब्रह्माण्डीय धूल के लिए भी। हम सभी रहस्यमयी लय की धुन पर नाचते हैं, जो दूरस्थ अदृश्य बाँसुरी वादक द्वारा बजायी जाती है।

योजना बनाना अच्छा है, लेकिन भूलिये मत जब अच्छे समाचार अचानक हमारे पास आते हैं तो बड़ी खुशी और आनन्द लाते हैं। जीवन में विश्वास रखिये क्योंकि आने वाला कल दूसरा दिन है।

किसी ने कहा भी है –

तेरी सत्ता के बिना, हे प्रभु मंगल मूल।

पत्ता तक हिलता नहीं, खिले न कोई फूल।

हमारे प्रभु जी

अपार शक्ति सिन्धु हैं हमारे प्रभु जी देख लो।
अनन्त शुद्ध बुद्ध है हमारे प्रभु जी देख लो।।
सुख की राशि है हमारे प्रभु जी जान लो।
वही राम-कृष्ण-शम्भु हैं मन में ऐसा मान।।
अपार शक्ति सिन्धु है.......
द्रोपदी की लाज रखनें साड़ी बनके आए थे।
गज को ग्राह से उबारने को दौड़े आये थे।।
अनन्त सृष्टि स्रष्टा है हमारे प्रभु जी देख लो।
अपार शक्ति सिन्धु हैं हमारे प्रभु जी देख लो।।
ग्वाल बाल संग में बन में गउओं को चराये थे।
गोपियों के संग उनको खेल तुम रचाये थे।।
दृष्टि दीक्षा देके उनको बावला बनाए थे।
हार्द दीक्षा दे के निज समान ही बनाएं थे।।
गगन सदृश अनन्त है हमारे प्रभु जी देख लो।
अपार शक्ति सिन्धु है हमारे प्रभु जी देख लो।।
भार भूमि का हटाने राम बनके आये हो।
ज्ञान का प्रसार करने कृष्ण बनके आये हो।।
यज्ञ हिंसा रोकने को बुद्ध बनके आये थे।
पापियों को तारने गुरुदेव बनके आये हो।।
अनन्त तेज पुंज है हमारे प्रभु जी देख लो।
अपार शक्ति सिन्धु हैं हमारे प्रभु जी देख लो।।

●●●

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तो का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

☐☐☐☐☐☐

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः

जिनकी परमात्मा देव में उत्कृष्ट भक्ति है और जिस प्रकार परमात्मा में भक्ति है उसी प्रकार गुरु में भी भक्ति है, उन महात्माओं को कहे हुए अर्थ प्रकाशित होते हैं।

संस्थापक:– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक **डॉ. दासलाल शर्मा के लिए** राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुदित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा